पात्र-परिचय

पुरुष

सूत्रधार ……	प्रधान नट
चाणक्य ……	राजनीति का प्रसिद्ध प्रकांड पंडित, जो विष्णुगुप्त तथा कौटिल्य नाम से भी पुकारा जाता था।
चंद्रगुप्त ……	पाटलिपुत्र का राजा, नाटक का नायक।
राक्षस ……	नंद का प्रधान-मंत्री।
मलयकेतु ……	पर्वतक का पुत्र, प्रतिनायक।
शार्ङ्गरव ……	चाणक्य का शिष्य।
भागुरायण ……	चाणक्य का गुप्तचर, राक्षस का कृत्रिम मित्र।
चन्दनदास, शकटदास	राक्षस का अंतरंग मित्र।
विराधगुप्त ……	संपेरे के वेश में राक्षस का गुप्तचर।
करभक ……	पथिक के वेश में राक्षस का गुप्तचर।
कंचुकी ……	वैहीनरि नामक चंद्रगुप्त का द्वारपाल।
कंचुकी ……	जाजलि नामक मलयकेतु का द्वारपाल।
जीवसिद्धि ……	बौद्ध-सन्यासी के वेश में चाणक्य का ज्योतिर्विद गुप्तचर
प्रियंवदक ……	राक्षस का सेवक।
सिद्धार्थक ……	प्रथम चांडाल वेषधारी वज्रलोमक नाम का चाणक्य का दूत।

पुरुष ...... राजा के आगमन की सूचना देनेवाला।
भासुरक ...... मलयकेतु का सेवक।
सुमिद्धार्थक...... सिद्धार्थक का मित्र, वेणुवेत्रक नाम का द्वितीय चांडाल वेषधारी चाणक्य का गुप्तचर।

स्त्रियां

प्रतिहारी ...... शोणोत्तरा नाम की चंद्रगुप्त की द्वारपालिका।
प्रतिहारी ...... विजया नाम की मलयकेतु की द्वारपालिका।
नटी ...... सूत्रधार की स्त्री।
स्त्री ...... चंदनदास की पत्नी।

अन्य

पुरुष, द्वारपाल, चंदनदास का पुत्र, वैतालिक (पहला, दूसरा) आदि।

मुद्राराक्षस नाटक

—(:❀:)—

(रंगशाला में मंगलाचरण होता है)

धन्या कौन तुम्हारे सिर पर ? इन्दु-कला, क्या नाम यही ?
परिचित भी क्यों भूल गई तुम ? है यह इसका नाम सही।
कहती ललना को न शशी को, कह दे विजया, नहिं विश्वास ?
सुरसरि के यों गोपन-इच्छुक शिव का शाठ्य हरे सब त्रास ॥१॥
पद-स्वच्छन्द पात से भावी अवनी अवनति को हरते,
सकल-लोक-व्यापी भुज-युग को झट सिकोड़ अभिनय करते,
अनल उगलती उग्र न डालें दृष्टि, जले संसार कहीं,
यों जग-रक्षक शिव का दुख-युत नृत्य हरे दुख-ताप वही ॥२॥

(नांदी के अंत में सूत्रधार का प्रवेश)

सूत्रधार—बस, बहुत, न बढ़ाइए। मुझे परिषद् ने आज्ञा दी है कि—आज सामंत वटेश्वर के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र कवि विशाखदत्त के बनाये हुए मुद्राराक्षस नाटक का अभिनय कीजिए। ठीक है, जो सभा काव्य के गुण-दोषों से भली भाँति परिचित है, उसके आगे अभिनय करते हुए मेरे भी मन में महान् संतोष उत्पन्न होता है।

क्योंकि—

बढ़ती खेती मूर्ख की, बोई यदि सुस्थान।
धान्य-वृद्धि में है नहीं, कारण कृषक-ज्ञान ॥३॥

तो अब मैं घर जा अपनी सहचरी को बुलाकर गृह-जन के साथ गाना-बजाना आरंभ करता हूँ। (घूमकर और देखकर) यह हमारा घर है

तो भीतर चलूं (अभिनय पूर्वक भीतर जाकर और देखकर) अहा !
तो यह क्या बात है, आज हमारे घर में महोत्सव-सा दीख पड़ता है !
घर वाले सब अपने-अपने काम में खूब मग्न हो रहे हैं ! देखो—

जल ढो रही यह, पीसती यह चंदनादिक है अहा !
है गूंथती यह मालिकाएं विविध कुसुमों की यहां !
ऊपर उठा करके गिराती यह मुसल को जब अहो !
हुंकार बारंबार करती अति मनोहर मस्त हो ॥३॥

तो हो सहधर्मी को बुलाकर पूछता हूं ।

(नेपथ्य की ओर दृष्टि डालकर)

गुणशालिनी ! हे कुल-तिलके ! लोक-यात्रा-साधिके !
धर्मादि तीनों वर्ग की संपादिके ! आराधिके !
मेरे भवन की नीति-विद्या-रूपिणी तुम हो कहां ?
मैं हूं बुलाता कार्य से, आर्ये ! झटिति आओ यहां ॥४॥

(नटी का प्रवेश)

आरम्भ करो; चंद्र-ग्रहण के विषय में तो किसी ने तुम्हें धोखा दिया है, देखो—

लघु-मंडल अब चंद्र का, निर्दय राहु स-केतु—
अभिभव बल से चाहता,

(इस प्रकार आधी बात कह चुकने पर
नेपथ्य में)

आः ! यह कौन मेरे रहते हुए बल से चंद्र का अभिभव करना चाहता है ?

सूत्रधार— रक्षा में बुध हेतु ॥६॥

नटी—आर्य ! यह फिर कौन है, जो पृथ्वी पर रहकर चंद्र को ग्रह के आक्रमण से बचाना चाहता है।

सूत्रधार—आर्ये ! यह ठीक है; मैंने भी नहीं पहचाना; अच्छा, मैं फिर सावधान होकर स्वर को पहचानूंगा।

('लघु-मंडल' इत्यादि फिर पढ़ता है)

(नेपथ्य में)

आः ! यह कौन मेरे रहते हुए बल से चन्द्र का परिभव करना चाहता है ?

सूत्रधार—(सुनकर) अच्छा, समझ गया !

कुटिल-बुद्धि कौटिल्य······

नटी—(आधी बात सुनकर भय का अभिनय करती है)

सूत्रधार—

कुटिल-बुद्धि कौटिल्य वही यह, क्रोधानल में,
जिसने बरबस नंद-वंश भस्म किया क्षण में।
सुन 'चन्द्रग्रहण' यह शब्द वही इसने माना,
मौर्य-चन्द्र पर शत्रु करेगा हमला जाना, ॥७॥

तो आओ, हम चलें।

(दोनों का प्रस्थान)

प्रस्तावना

पहला अंक

स्थान—चाणक्य की कुटी

(खुली शिखा को हाथ से फटकारते हुए चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य—कहो, यह कौन मेरे रहते हुए चंद्रगुप्त का बल से अभिभव करना चाहता है ?

चख कर मतंगज-रक्त को जो लाल रंग में है रंगी,
संध्या-अरुण मानो शशि की ही कला हो जायगी !
जृम्भा-समय मुख खोलने से जो चमकती है महा,
है कौन, ऐसी सिंह-दंष्ट्रा चाहता रहना यहां ॥८॥

और—

नंद-वंश-हित काल-सर्पिणी,
क्रोध-वन्हि-चल धूम्र-वल्लरी।
वध्य कौन जग-मध्य आज भी,
चाहता न मम आः शिखा बंधी ? ॥९॥

और सुनो—

नंद-वंश-वन-वह्नि जो अहो !
क्रोध को मम प्रदीप्त लांघ के,
कौन मूर्ख परिणाम अन्ध हो,
नाश-इच्छुक पतंग-रीति से ॥१०॥

शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

(शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—गुरुजी ! आज्ञा कीजिये।

चाणक्य—वत्स ! मैं बैठना चाहता हूँ।

शिष्य—गुरुजी ! इस दालान में वेत्रासन बिछा हुआ है; तो गुरुजी यहां विराज सकते हैं।

चाणक्य—वत्स ! कार्य व्यग्रता ही मुझे व्याकुल कर रही है, न कि शिष्यों के प्रति गुरु-जन की स्वाभाविक क्रूरता। (अभिनय पूर्वक बैठकर, स्वगत) नागरिक लोगों को इस बात का कैसे पता लगा कि—नंद-कुल के विनाश से क्रुद्ध होकर राक्षस, पिता के वध से आग-बबूला हुए और सारे नन्द-राज्य की प्राप्ति की आशा से प्रोत्साहित हुए पर्वतक के पुत्र मलयकेतु के साथ मिलकर और उसके आश्रित महान् यवनराज की सहायता लेकर, चंद्रगुप्त पर चढ़ा चाहता है (सोचकर) अथवा जब मैंने सारे संसार के देखते-देखते नंद-कुल के नाश की प्रतिज्ञा करके दुस्तर प्रतिज्ञा-सरिता को पार कर लिया; सो अब मैं इस बात के प्रकट हो जाने पर भी इसे न दबा सकूंगा? यह कैसे? जिस मेरी—

रिपु-युवति-दिशा मुख-चन्द्रों को शोक धूम से रचकर श्याम,
मंत्रि-द्रुमों पर नीति-पवन से बिखरा मोह-भस्म अविराम,
जला दुखित-पुरवासी-द्विज-गण-विरहित नंद वंश-संतान,
बुझता दाह्य-विहीन, न श्रम से क्रोध-वह्नि, वनवह्नि समान ॥११॥

और—

धिक-शब्द-युत दुःखित हुए कर निम्न मुख नृप-नीति से,
लखते मुझे जो अग्र-आसन से पतित हत रीति से,
कुल-सहित सिंहासन-पतित वे नन्द को देखें तथा,
गिरि-शृंग से झट खींच करि को हरि गिराता है यथा ॥१२॥

वही मैं अब प्रतिज्ञा के पूर्ण हो जाने पर भी, चन्द्रगुप्त के कारण नीति का प्रयोग कर रहा हूँ। देखो, मैंने—

हृदय-वासना-सम अवनी से नंद वंश का नाश किया,
सर में नलिनी-सदृश मौर्य को स्थिर-लक्ष्मी-आवास किया
क्रोध, प्रेम के फल जो दोनों निग्रह और अनुग्रह-रूप,
बांटा उनको अरि-मित्रों में हठ-युत हो निज-निज अनुरूप ॥१३॥

अथवा, बिना राक्षस को वश में किए मैंने नंद वंश का क्या विनाश कर दिया अथवा चन्द्रगुप्त की राजलक्ष्मी को क्या अटल बना दिया ? (सोचकर) अहा ! राक्षस नंद-कुल का अत्यंत दृढ़ भक्त है ! वह निश्चय ही नंद-वंशीय किसी भी व्यक्ति के जीते जी, चंद्रगुप्त का मंत्री नहीं बनाया जा सकता। यदि वह उसे राज्य दिलाने के लिए यत्न न करे तो वह चंद्रगुप्त का मंत्री बनाया जा सकता है। ठीक यही सोच कर हमने बेचारे नंद-वंशीय सर्वार्थसिद्धि को, तपोवन चले जाने पर भी, मार डाला। फिर भी राक्षस मलयकेतु को, अपने साथ मिलाकर हमारे विनाश के लिए घोरतर प्रयत्न करता ही रहता है। (आकाशकी ओर इस प्रकार टकटकी बांधकर मानों राक्षस दीख पड़ रहा हो) वाह ! अमात्य राक्षस ? मंत्रियों में बृहस्पति के समान ? वाह ? तुम धन्य हो। क्योंकि—

धनाढ्य की सेवा करता धन-हित यह संसार,
आपद में जो साथ न तजते इच्छुक यश-विस्तार,
प्रभु के मरन पर भी कर जो याद प्रथम उपकार
स्वार्थ-हीन सब भार उठाते, वे दुर्लभ संसार ॥१४॥

इसीलिए तो हम तुम्हें अपनी ओर मिलाने के लिए इतना प्रयत्न कर रहे हैं कि किस प्रकार कृपा करके चंद्रगुप्त के मंत्री-पद को स्वीकार कर सकेंगे। क्योंकि—

भीरु मूर्ख यदि सेवक होवे भक्त यहां, कुछ लाभ नहीं,
चतुर पराक्रमशाली भी क्यों, भक्ति-हीन से लाभ नहीं ?
बुद्धि-पराक्रम-भक्ति-सहित जो सुख या दुख में करते कल्याण,
वे ही सच्चे सेवक नृप के, अन्य सभी हैं नारि-समान ॥१५॥

इसलिए मैं भी इस विषय में सो नहीं रहा हूँ। मैं यथाशक्ति उसको वश में करने का प्रयत्न कर रहा हूँ। कैसे ? देखो, मैंने—'चंद्रगुप्त और पर्वतक इन दोनों में कोई भी मर जाय, उससे चाणक्य का बुरा होगा' यह सोचकर राक्षस ने विष-कन्या के द्वारा हमारा अत्यन्त उप-

कारी मित्र बेचारा पर्वतेश्वर मरवा डाला है—यह लोकापवाद संसार में सर्वत्र प्रचलित कर दिया ? संसार को विश्वास दिलाने के लिए, यही बात प्रकट करने के लिए, भागुरायण ने 'तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मार डाला' इस प्रकार पर्वतक के पुत्र मलयकेतु को एकान्त में भयभीत करके उसे वहां से भगा दिया है। राक्षस की बुद्धि का सहारा लेकर भी यदि मलयकेतु युद्ध के लिए तत्पर होता है,तो उसका अवश्य ही निज-नीति चातुरी-द्वारा निग्रह किया जा सकता है। किंतु उसके मार देने से पर्वतक के वध के कारण अपने माथे पर लगे कलंक के टीके को हम नहीं धो सकते। एक और भी बात है, मैंने स्व-पक्ष और पर-पक्ष दोनों पक्ष के प्रेमियों और द्वेषीजनों को जानने की इच्छा से विविध देशों की भाषा, वेश तथा आचार-व्यवहार में निपुण भिन्न-भिन्न रूप-धारी अनेक गुप्तचरों को नियुक्त कर दिया है, और वे कुसुमपुर-निवासी नंद के मंत्री और मित्रों की गति-विधि एवं उनके कार्य-व्यापारों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से देखते-भालते रहते हैं। मैंने, चन्द्रगुप्त के अभ्युदय के संगी भद्रभट आदि विशिष्ट व्यक्तियों को, वह-वह कारण उत्पन्न करके—जिससे कि मलयकेतु उनसे प्रसन्न हो जाय, उन-उन पदों पर अधिष्ठित कर दिया है। और शत्रु-द्वारा नियुक्त विष देने वाले पुरुषों के कार्य को विफल करने के लिए मैंने राजा के समीपवर्ती ऐसे विश्वस्त पुरुष नियुक्त किये हैं, जो सदा सावधान एवं जागरुक रहने वाले हैं तथा जिनकी स्वामि-भक्ति की परख हो चुकी है। इसके अतिरिक्त विष्णुशर्मा नाम का एक ब्राह्मण है, जो मेरा सहपाठी और मित्र है। यह शुक्र की दंड-नीति और ज्योतिः शास्त्र के चौंसठों अंगों का प्रकांड पंडित है। नंद-वध की प्रतिज्ञा करने के अनंतर ही मैंने उसे बौद्ध-संन्यासी के वेश में कुसुमपुर भेजकर उसकी नंद के मंत्रियों के साथ मित्रता करा दी है। उसके द्वारा हमारे बड़े-बड़े काम सिद्ध होंगे। तो इस प्रकार मेरी ओर से कोई कमी नहीं होगी। चंद्रगुप्त ही स्वयं मेरे ऊपर सम्पूर्ण राज्य का कार्य-भार डालकर उदासीन रहता है ! अथवा जो राज्य राजकीय कार्यों-सम्बंधी असा-

धारण दुःखों से रहित होता है, वही सुख पहुंचाता है। क्योंकि-

खुद श्रम कर जो भोगते, स्वाभाविक बलवान !
पाते वे भी गज नृपति, प्रायः दुःख महान ॥ १६ ॥

(यम-पट हाथ में लिए गुप्तचर का प्रवेश)

गुप्तचर—

अन्य सुरों से कार्य क्या, यम को करो प्रणाम ।
अन्य-भक्त-जन का यही, हरता जीव ललाम ॥ १७ ॥

और,

निर्दय यम की भक्ति से, पाता नर निज प्राण ।
मारे जो यम लोक को, देता जीवन-दान ॥ १८ ॥

तो इस घर में जाकर यम-पट दिखाकर गाता हूँ ।

शिष्य—(देखकर) भद्र ! भीतर न आना ।

गुप्तचर—ऐ ब्राह्मण ? यह घर किसका है ?

शिष्य—हमारे गुरु आर्य चाणक्य का, जिनके नामोच्चारण से पुण्य होता है ।

गुप्तचर—(हंसकर) यह अपने ही गुरु-भाई का घर है, इसलिए मुझे भीतर आने दो ? मैं तुम्हारे गुरु को धर्म का उपदेश दूंगा ।

शिष्य—(क्रोधपूर्वक) छिः मूर्ख ? क्या तुम हमारे गुरुजी से भी अधिक धर्म-विद् हो ?

गुप्तचर—ऐ ब्राह्मण ! क्रोध न करो । यह निश्चित है कि सब सब कुछ नहीं जानते; तो कुछ तुम्हारे गुरु जानते हैं, कुछ हम-सरीखे भी जानते हैं ।

शिष्य—(क्रोधपूर्वक) मूर्ख ! गुरुजी की सर्वज्ञता को छिपाना चाहते हो ?

गुप्तचर—ऐ ब्राह्मण ! यदि तुम्हारे गुरु सब कुछ जानते हैं, तो बताएँ तो सही कि—चंद्र किसे प्रिय नहीं है ?

शिष्य—मूर्ख ! यह जानने से गुरुजी का कौनसा प्रयोजन सिद्ध होगा ?

गुप्तचर—ऐ ब्राह्मण ! तुम्हारे गुरुजी ही जान लेंगे, जो कुछ इसके जानने से होगा। तुम सीधे-सादे हो, केवल इतना ही जानते हो कि कमल चंद्र को नहीं चाहते। देखो,

सुन्दर श्री कमलों का होता,
शील रूप प्रतिकूल।
पूर्ण-विंब भी रम्य चन्द्र के,
जो न अहो ! अनुकूल ॥ १६ ॥

चाणक्य—(सुनकर स्वगत) अहो ! 'मैं चंद्रगुप्त के विरोधी पुरुषों को जानता हूँ' यह इसने कहा है।

शिष्य—मूर्ख ! क्या यह बे-सिर-पैर की बात उड़ा रहे हो ?

गुप्तचर—ओ हो ! ब्राह्मण ! यह सुसंगत हो जाय······

शिष्य—यदि क्या हो जाय ?

गुप्तचर—यदि मुझे सुनने और जानने वाला मनुष्य मिल जाय।

चाणक्य—(देखकर) भद्र पुरुष ! निश्चिन्त होकर भीतर चले आओ, सुनने और जानने वाला तुम्हें मिल जाएगा।

गुप्तचर—मैं अभी भीतर आया। (भीतर जा समीप पहुँच कर) जय हो, जय हो आर्य की।

चाणक्य—(देखकर स्वगत) क्यों ! कार्यों के बहुत अधिक होने के कारण यह पता नहीं चलता कि—निपुणक को क्या जानने के लिए नियुक्त किया था ! (प्रकट) भद्र पुरुष ! तुम्हारा स्वागत हो ! बैठो।

गुप्तचर—जो आर्य की आज्ञा। (भूमि पर बैठ जाता है)

चाणक्य—भद्र पुरुष ! जिस काम के लिए तुम गए थे, उसके विषय में कहो। क्या प्रजा चंद्रगुप्त को चाहती है ?

गुप्तचर—जी हाँ; आर्य ने पहले ही विराग-कारणों को दूर कर दिया है; इसलिए सुगृहीत-नामदेव चंद्रगुप्त में सारी प्रजा अनुरक्त है। किंतु फिर भी इस नगर में तीन पुरुष ऐसे हैं, जो अमात्य राक्षस के पूर्व-स्नेही और उसका आदर-सम्मान करते हैं और जो चंद्र-समान-क्रांति देव चंद्रगुप्त की वृद्धि को सहन नहीं करते।

चाणक्य—(क्रोध पूर्वक) अजी! यह कहना चाहिए कि अपने जीवन को नहीं सहन करते। क्या उनका नाम ज़ानते हो?

गुप्तचर—बिना नाम जाने क्यों मैं आर्य को उनकी सूचना देता?

चाणक्य—तो मैं सुना चाहता हूँ।

गुप्तचर—सुनें आर्य! पहले तो आर्य के रिपु-दल का पक्षपाती क्षपणक है।

चाणक्य—(हर्षपूर्वक स्वागत) हमारे रिपु-दल का पक्षपाती क्षपणक! (प्रकट) क्या नाम है उसका?

गुप्तचर—उसका नाम जीवसिद्धि है।

चाणक्य—क्षपणक हमारे रिपु-दल का पक्षपाती है, यह आपने कैसे जाना?

गुप्तचर—क्योंकि उसने अमात्य राक्षस-द्वारा नियुक्त विष-कन्या का देव पर्वतेश्वर पर प्रयोग किया।

चाणक्य—(स्वगत) यह तो हमारा गुप्तचर जीवसिद्धि है! (प्रकट) भद्र पुरुष! अच्छा, दूसरा कौन है?

गुप्तचर—आर्य! दूसरा अमात्य राक्षस का प्रिय मित्र शकटदास नाम का कायस्थ है।

चाणक्य—(हंसकर स्वगत) 'कायस्थ' यह तुच्छ वस्तु है! फिर भी तुच्छ भी शत्रु की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। उसके लिए मैंने सिद्धार्थक को उसका मित्र बनाकर रख छोड़ा है। (प्रकट) भद्र पुरुष! तीसरे को भी सुनना चाहता हूँ।

गुप्तचर—तीसरा भी अमात्य राक्षस का मानों दूसरा हृदय, कुसुमपुर-निवासी वह जौहरी सेठ चंदनदास है; जिसके घर में अपने कुटुम्ब को धरोहर के रूप में छोड़कर अमात्य राक्षस नगर से चला गया है।

चाणक्य—(स्वगत) अवश्य बड़ा भारी मित्र है! क्योंकि राक्षस ऐसे पुरुषों के पास कभी भी निज परिवार को धरोहर के रूप में नहीं रख सकता, जिन्हें वह आत्मा-तुल्य न समझता हो। (प्रकट) भद्र-पुरुष! यह तुमने कैसे जाना कि—चंदनदास के घर में राक्षस ने निज परिवार को धरोहर के रूप में रख छोड़ा है?

गुप्तचर—आर्य! यह अंगुलि-मुद्रा आर्य को सारी बात बता देगी।

(अंगुली-मुद्रा देता है)

चाणक्य—(मुद्रा की ओर देख उसे हाथ में लेकर और राक्षस का नाम बांचकर हर्ष पूर्वक स्वगत) अजी! राक्षस ही हमारे हाथ-तले का हो गया! (प्रकट) भद्र! अंगुलि-मुद्रा तुम्हें कैसे मिली, मैं विस्तार पूर्वक सुनना चाहता हूँ।

गुप्तचर—सुनें आर्य। आर्य ने मुझे नागरिक जनों के कार्य-व्यापार को जानने के लिये नियुक्त किया था; फिर दूसरों के घरों के भीतर जाने में जिससे उन्हें तनिक भी आशंका न हो, इस यम-पट के द्वारा घूमता हुआ मैं एक दिन जौहरी सेठ चंदनदास के घर में चला गया। वहाँ मैंने यम-पट बिछाकर गाना आरम्भ किया।

चाणक्य—तब, फिर?

गुप्तचर—तब, बाल-सुलभ कौतूहल के कारण बड़ी-बड़ी आँखें खोले पांच वर्ष का एक सुन्दर सुडौल बालक एक परदे के पीछे से बाहर निकलने लगा। तब उसी परदे के भीतर 'हाय! बाहर निकल गया हाय! बाहर निकल गया' इस प्रकार स्त्रियों में, शंका उत्पन्न हो जाने के कारण, बड़ा भारी कोलाहल मच गया। तब एक स्त्री ने, द्वार के बाहर

ज़रा मुख निकालकर और बाहर निकलते हुए उस बच्चे को घुड़क कर, उसे अपनी कोमल बाहुओं से पकड़ लिया और बालक को पकड़ने की हबड़-तबड़ में अंगुलि के झटके जाने से हाथ से पुरुष की ँगुली के नाप से बनी हुई यह अंगुली-मुद्रा देहली-द्वार पर गिर पड़ी। उस स्त्री को इस बात का पता ही नहीं लगा, और वह अंगुलि-मुद्रा मेरे पैर के पास आकर प्रणाम-नम्रा नव वधू के समान निश्चल हो गई। मैंने भी, क्योंकि अमात्य राक्षस का नाम इस पर खुदा हुआ है, इसलिये आर्य के चरणों में पहुँचा दी है। तो यह मुद्रा इस प्रकार प्राप्त हुई है।

चाणक्य—भद्र पुरुष ! मैंने सुन लिया। जाओ, तुम्हें शीघ्र ही इस परिश्रम के अनुरूप फल मिलेगा।

गुप्तचर—जो आर्य की आज्ञा।

(प्रस्थान)

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

(शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—गुरुजी ! आज्ञा कीजिये।

चाणक्य—वत्स ! दवात-कलम और कागज ले आओ।

शिष्य—जो गुरुजी की आज्ञा ! (बाहर जाकर और फिर भीतर आकर) गुरुजी ! ये रहे दवात-कलम और कागज।

चाणक्य—(हाथ में लेकर, स्वगत) इसमें क्या लिखूँ ? अवश्य ही इस लेख-द्वारा राक्षस को जीतना है।

(प्रतिहारी का प्रवेश)

प्रतिहारी—जय हो, जय हो आर्य की।

चाणक्य—(हर्षपूर्वक स्वगत) इस जय-ध्वनि को मैं स्वीकार करता हूं। (प्रकट) शोणोत्तरा ! तुम क्यों आई हो ?

प्रतिहारी—आर्य ! कमल-मुकुल के समान अंजलि से मस्तक को अलंकृत करके देव चंद्रगुप्त ने आर्य को यह संदेश दिया है कि—'मैं यदि आर्य आज्ञा करें, तो देव पर्वतेश्वर की श्राद्ध-क्रिया किया चाहता

हूं। और मैं उनके पहने हुए भूषण गुणवान ब्राह्मणों को समर्पित कर रहा हूं।'

चाणक्य—(हर्षपूर्वक स्वगत) वाह! चंद्रगुप्त! वाह! मेरे ही मन के साथ मंत्रणा करके तुमने यह संदेश दिया है! (प्रकट) शोणोत्तरा! मेरी ओर से चन्द्रगुप्त से कह देना कि—वाह बेटा! वाह! तुम लोक-व्यवहार को भली भांति जानते हो, तो अपने मन की बात कर डालो। परन्तु पर्वतेश्वर के पहने हुए बहु-मूल्य अलंकार गुणवान ब्राह्मणों को ही समर्पित करने चाहिएं। इसलिए ऐसे ब्राह्मणों को मैं स्वयं गुण-परीक्षा के बाद भेजूँगा।

प्रतिहारी—जो आर्य की आज्ञा।

(प्रस्थान)

चाणक्य—शार्ङ्गरव! शार्ङ्गरव! विश्वावसु आदि तीनों भाइयों से मेरी ओर से कह दो कि—'आप लोग चन्द्रगुप्त के पास जांय और भूषण दान लेकर मुझसे मिलें।

शिष्य—जो गुरु जी की आज्ञा।

(प्रस्थान)

चाणक्य—(स्वागत) यह बात तो पीछे से लिखने की है, पहले क्या लिखें? (सोचकर) हां, जान गया। मुझे गुप्तचरों से पता लगा है कि—उस यवनराज की सेना में प्रधानतम पांच राजा अन्धे होकर राक्षस के पीछे चलते हैं।

कौलूत चित्रवर्मा नरपति, नृसिंह सिंहनाद मलयेश,
अरि-यम सिंधुसेन सिंधु-पति, पुष्कराक्ष काश्मीर नरेश;
हय-बल-युत मेघाक्ष नृपति वह पंचम पारसीक-अधिराज,
इनके नाम यहां मैं लिखता, मेटे चित्रगुप्त वह आज ॥२०॥

(सोचकर) अथवा नहीं लिखता, सब कुछ गोल-माल ही रहे (प्रकट) शार्ङ्गरव! शार्ङ्गरव!

(शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—गुरुजी ! आज्ञा कीजिये।

चाणक्य—वत्स ! श्रोत्रिय लोग कितना भी सुधार कर लिखें, उनके अक्षर अस्फुट ही होते हैं, इसलिये हमारी ओर से सिद्धार्थ से कहो—(कान में कहकर) यह बात किसी को भी किसी के भी प्रति साक्षात् कहनी चाहिये, इसलिए शकटदास के पास जाकर उससे सरनामे पर बिना किसी के नाम वाला पत्र लिखवा कर मेरे समीप आवे, और उससे यह न कहे कि चाणक्य लिखवा रहा है।

शिष्य—जो आज्ञा।

(प्रस्थान)

चाणक्य—(स्वगत) अहा ! मैंने जीत लिया मलयकेतु !

(लेख हाथ में लिए हुये सिद्धार्थक का प्रवेश)

सिद्धार्थक—जय हो, जय हो आर्य की ! आर्य ! यह वह शकटदास का अपने हाथ का लिखा हुआ लेख है।

चाणक्य—(लेकर देखकर) अहो ! कैसे सुन्दर अक्षर हैं ! (पढ़कर) भद्र पुरुष ! इस पर यह मोहर लगादो।

सिद्धार्थक—जो आर्य की आज्ञा। (मोहर लगाकर) आर्य ! इस पत्र पर मोहर लग गई है। आर्य आज्ञा करें और क्या किया जाय ?

चाणक्य—भद्र पुरुष ! मैं तुम्हें किसी अपने करने योग्य कार्य में नियुक्त किया चाहता हूँ।

सिद्धार्थक—(हर्षपूर्वक) आर्य ! अनुगृहीत हूं। तो आर्य आज्ञा करें—आर्य का कौन-सा काम इस सेवक को करना होगा ?

चाणक्य—भद्र पुरुष ! पहले तुम वध्य-शाला में जाकर घातकों को क्रोधपूर्वक दाहिनी आंख को दबाने का संकेत समझा देना, उसके बाद जब वे संकेत को समझ कर भय के बहाने इधर-उधर भाग जांय, तब तुम शकटदास को वध्यशाला से हटाकर राक्षस के समीप पहुँचा देना, मित्र की प्राण-रक्षा के कारण प्रसन्न होकर वह तुम्हें पारितोषिक देगा। कुछ समय तक राक्षस की ही सेवा में रहना ! तब जबकि शत्रु

लोग निकट संपर्क में आ जाएँ, तब तुम अपना यह प्रयोजन सिद्ध करना।

(कान में कहता है)

सिद्धार्थक—जो आर्य की आज्ञा।

चाणक्य—शाङ्गरव! शाङ्गरव!

(शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—गुरुजी! आज्ञा कीजिए!

चाणक्य—कालपाशिक और दंडपाशिक से मेरी ओर से यह कहो कि—'चंद्रगुप्त की आज्ञा है कि जो वह जीवसिद्धि नाम का जैन-साधु है, उसने, राक्षस की आज्ञा से विष-कन्या का प्रयोग करके पर्वतेश्वर को मार डाला, उसके इसी अपराध को प्रसिद्ध करके उसे अनादरपूर्वक नगर से निकाल दें।'

शिष्य—जो आज्ञा!

(चलने लगता है)

चाणक्य—वत्स! ठहरो; ठहरो, उससे यह भी कहना कि—'जो वह दूसरा शकटदास नाम का कायस्थ है, वह राक्षस की आज्ञानुसार हमारे शरीर-विनाश के लिए नित्य यत्न करता रहता है, उसको भी यह अपराध प्रसिद्ध करके शूली पर चढ़ा दो और उसके परिवार को कारागार में पहुँचा दो।'

शिष्य—जो आज्ञा।

(प्रस्थान)

चाणक्य—(चिंता का अभिनय करता हुआ, स्वगत) क्या दुरात्मा राक्षस भी पकड़ा जा सकता है?

सिद्धार्थक—आर्य! मैंने ग्रहण कर लिया।

चाणक्य—(हर्षपूर्वक स्वगत) अहा! राक्षस को पकड़ लिया! (प्रकट) भद्र पुरुष! किसे ग्रहण कर लिया?

सिद्धार्थक—मैंने आर्य का संदेश ग्रहण कर लिया है, तो मैं कार्य सिद्ध करने के लिए जाऊंगा।

चाणक्य—(अंगुलि-मुद्रा के साथ पत्र देकर) भद्र! सिद्धार्थक! जाओ, तुम्हारा कार्य सफल हो!

सिद्धार्थक—जो आर्य की आज्ञा।

(प्रणाम करके प्रस्थान)

(शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—गुरुजी! कालपाशिक और दंडपाशिक दोनों ने गुरुजी को यह संदेश भेजा है कि—'महाराज चंद्रगुप्त की आज्ञा का हम अभी पालन कर रहे हैं।'

चाणक्य—बड़ा अच्छा है! वत्स! मैं अब सेठ चंदनदास जौहरी से मिलना चाहता हूँ।

शिष्य—जो गुरुजी की आज्ञा।

(बाहर जाता है, चंदनदास के साथ पुनः प्रवेश)

शिष्य—इधर को, इधर को सेठ जी!

चंदनदास—(स्वगत)

निर्दय इस चाणक्य की, सुनकर क्रूर पुकार।
दोष-रहित भी भय-विकल, दोषी डरूं अपार॥२०॥

इसी से मैंने धनसेन आदि तीनों व्यापारियों से कह दिया है कि—'दुष्ट चाणक्य कदाचित् मेरे घर की तलाशी ले ले, इसलिये स्वामी अमात्य राक्षस के परिवार को सावधान होकर अन्य स्थान पर पहुँचा दो, मेरा जो होना है वह होने दो।

शिष्य—अजी! सेठजी! इधर को, इधर को।

चंदनदास—यह मैं आ गया हूँ।

(दोनों घूमते हैं)

शिष्य—गुरुजी! ये सेठ चंदनदास हैं।

चंदनदास—(पास आकर) जय हो, जय हो आर्य की।

चाणक्य—(अभिनयपूर्वक देखकर) सेठजी स्वागत हों। यह आसन ग्रहण कीजिए।

चंदनदास—(प्रणाम करके) क्या आर्य नहीं जानते कि—अनुचित सत्कार तिरस्कार से भी अधिक दुःखदायी होता है? इसलिए यहीं अपने योग्य स्थान पर मैं बैठ जाता हूं।

चाणक्य—नहीं, सेठजी! आप ऐसा न कहिये, हम जैसों के साथ आपका यह व्यवहार उचित सो है। इसलिए आप आसन पर ही बैठिए।

चंदनदास—(स्वगत) जान पड़ता है, इसे किसी बात का पता लग गया है! (प्रकट) जो आर्य की आज्ञा।

चाणक्य—सेठ चंदनदास जी! क्या आप लोगों का व्यवसाय भली भांति चल रहा है?

चंदनदास—(स्वगत) अति आदर शंकनीय होता है। (प्रकट) आर्य! जी हां, आर्य की दया से मेरा कुल व्यापार निर्विघ्न-रूप से चल रहा है।

चाणक्य—क्या चंद्रगुप्त के दोषों को देख प्रजा प्राचीन राजाओं के गुणों का कभी स्मरण करती है?

चंदनदास—(कानों पर हाथ रखकर) शिव शिव! शरद्‌निशा में उदय हुए पूर्णिमा के चंद्र के समान चंद्रगुप्त की वृद्धि से प्रजा अधिक प्रसन्न होती है।

चाणक्य—सेठजी! यदि यह सही है, तो राजा लोग भी प्रसन्न हुई प्रजा से कुछ भलाई की आशा रखते हैं।

चंदनदास—आर्य आज्ञा करें, आर्य कितना धन इस सेवक से चाहते हैं।

चाणक्य—सेठजी! यह चंद्रगुप्त का राज्य है, नंद का राज्य नहीं, क्योंकि अर्थ-लोलुप नंद को ही अर्थ-लाभ प्रसन्न कर सकता था, जबकि चंद्रगुप्त आप लोगों के सुख से संतुष्ट होता है।

चंदनदास—(हर्षपूर्वक) आर्य की बड़ी कृपा है।

चाणक्य—सेठजी ! वह सुख कैसे उत्पन्न होता है, यह तो आपको नहीं पूछना ?

चंदनदास—आर्य ! आज्ञा करें।

चाणक्य—सारी बात यह है कि राजा के विरुद्ध व्यवहार नहीं करना चाहिए।

चंदनदास—आर्य ! कौन भाग्य-हीन ऐसा है, जिसको आर्य विरोधी समझते हैं ?

चाणक्य—पहले तो आप ही हैं।

चंदनदास— (दोनों कान ढककर) शिव ! शिव ! शिव ! भला तिनकों और आग का कैसा विरोध ?

चाणक्य—विरोध ऐसा है कि तुमने अब भी राज-विरोधी अमात्य राक्षस के परिवार को अपने घर में रख छोड़ा है ?

चंदनदास—आर्य ! यह झूठ है, किसी नीच पुरुष ने आर्य से ऐसा कहा है।

चाणक्य—सेठजी ! घबराओ मत, पूर्ववर्ती राजाओं के अनुचर नगर-वासियों के घरों में उनके बिना चाहे भी अपने परिवार को धरोहर के रूप में छोड़कर अन्य देश को चले जाते हैं, इसलिए उनका छिपाना ही दोष उत्पन्न करता है।

चंदनदास—आर्य ! यह ठीक है; पहिले मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार था।

चाणक्य—पहिले 'झूठ है' और अब 'था' ये दोनों वाक्य परस्पर विरोधी हैं।

चंदनदास—इतना ही मुझ से वाक्छल हो गया।

चाणक्य—सेठजी ! चंद्रगुप्त के राज्य में छल कपट को अवकाश नहीं, इसलिये आप राक्षस के परिवार को सौंप दें, जिससे आप पर से झूठ बोलने का कलंक मिट जाय।

चंदनदास—आर्य ! मैं कह तो रहा हूँ कि—उस समय मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार था।

चाणक्य—तो अब कहाँ गया ?

चंदनदास—पता नहीं, कहाँ गया।

चाणक्य—(मुस्कराकर) सेठजी ! क्या तुम्हें पता नहीं कि साँप तो सिर पर है और बूटी पहाड़ पर ? और सुनो, जिस प्रकार चाणक्य ने नंद को···(इतना कह कर लज्जा का अभिनय करता है)।

चंदनदास—(स्वगत)

नभ में घन-घोर-गर्जना, दयिता दूर विनाश-काल है,
हिम-पर्वत दिव्य-औषधि, सिर पै सर्प विराजमान है ॥२२॥

चाणक्य—'···वैसे ही अमात्य राक्षस चंद्रगुप्त को नष्ट कर देगा' यह न समझो। देखो—

शूरवीर नय-निपुण सुमंत्री वक्रनास आदिक, चंचल—
जिस नृप लक्ष्मी को न सके कर नंदों के रहते अविचल
अब निश्चल होने पर उसको, द्युति-समान जग-आल्हादक
चंद्र-सदृश नृप चंद्रगुप्त से चाहे करना कौन पृथक् ? ॥२३॥

और भी—

(चखकर द्विरद के रक्त को···इत्यादि फिर पढ़ता है)

चंदनदास—(स्वगत) सफलता मिलने से आत्मश्लाघा तुमको फबती है।

(नेपथ्य में कोलाहल होता है)

चाणक्य—शाङ्गरव ! पता तो लो, यह क्या बात है ?

शिष्य—जो गुरुजी की आज्ञा।

(बाहर जाकर शिष्य का पुनः प्रवेश)

शिष्य—गुरुजी ! महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा से यह राज-विरोधी जीवसिद्धि नाम का जैन-साधु अपमान पूर्वक नगर से बाहर निकाला जा रहा है।

चाणक्य—जैन-साधु ! अहह !! अथवा भोगे राज-द्रोह का फल ! देखो सेठ चन्दनदास ! राजविरोधियों को यह राजा ऐसा कठोर दंड देता है। इसलिये मित्र के हितकर वचन मानो, राक्षस का परिवार अर्पण कर दो और चिरकाल तक राजा की कृपा के भाजन बनो।

(नेपथ्य में फिर कोलाहल होता है)

चाणक्य—शाङ्ग‌र्रव ! पता तो लो, यह फिर क्या बात है ?

शिष्य—जो गुरुजी की आज्ञा।

(बाहर जाकर शिष्य का पुनः प्रवेश)

शिष्य—गुरुजी ! राजा की आज्ञा से इस राज-द्रोही शकटदास कायस्थ को शूली पर चढ़ाने के लिए ले जा रहे हैं।

चाणक्य—अपने कर्म का फल भोगे। देखो, सेठजी ! यह राजा राज-विरोधियों को ऐसा कठोर दंड देता है। यह आपके राक्षस के कुटुम्ब को छिपाने को भी सहन न करेगा, इसलिये पर-कुटुम्ब को सौंपकर अपने कुटुम्ब और प्राणों की रक्षा करो।

चन्दनदास—आर्य ! क्या मुझे भय दिखाते हो ? घर में होने पर भी मैं अमात्य राक्षस के परिवार को नहीं दूंगा, न होने पर तो कहना ही क्या ?

चाणक्य—चन्दनदास ! यह तुम्हारा निश्चय है ?

चन्दनदास—जी हाँ, यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

चाणक्य—(स्वगत) वाह ! चन्दनदास ! वाह !—

अर्थ-लाभ यद्यपि सुलभ, पर अर्पण-हठ घोर।
कौन करे यह शिवि-विना, कलि में कर्म कठोर ? ॥२४॥

(प्रकट) चन्दनदास ! क्या तुम्हारा यही निश्चय है ?

चन्दनदास—जी हाँ।

चाणक्य—(क्रोधपूर्वक) दुरात्मा दुष्ट वणिक् ! तो राज-कोप का फल भोग।

चन्दनदास—(दोनों बाहें पसार कर) मैं तैयार हूँ, आप अपने अधिकार के अनुकूल जैसा चाहें करें।

चाणक्य—(क्रोधपूर्वक) शाङ्गर्रव ! मेरी ओर से कालपाशिक और दंडपाशिक से कह दो कि—'इस दुष्ट वणिक् को शीघ्र फांसी पर लटका दें।' अथवा रहने दो। दुर्गपाल और विजयपाल से कहो कि–इसके घर की सब असली चीज़ें लेकर इसे पुत्र-स्त्री समेत बांधकर रक्खें जब तक कि मैं चन्द्रगुप्त से कहूं, वही इसको प्राणदंड की आज्ञा देगा।

शिष्य—जो गुरुजी की आज्ञा। सेठजी ! इधर को, इधर को।

चन्दनदास—(उठकर) आर्य ! यह मैं आ रहा हूं। (स्वगत) सौभाग्य से, मित्र के कारण मेरे प्राण जाते हैं, न कि अपने अपराध के कारण।

(घूमकर शिष्य के साथ प्रस्थान)

चाणक्य—(हर्षपूर्वक) अहो ! अब हमने राक्षस को पा लिया ! क्योंकि—

यह ज्यों उसकी विपद में, तजता अप्रिय प्राण।
निश्चय इसकी विपद में, करे न वह निज त्राण॥२५॥

(नेपथ्य से कोलाहल होता है)

चाणक्य—शाङ्गर्रव !

(शिष्य का प्रवेश)

शिष्य—गुरुजी ! आज्ञा कीजिए।

चाणक्य—देखो, यह क्या है ?

शिष्य—(बाहर जाकर, सोचकर और आश्चर्यान्वित हो फिर आकर) गुरुजी ! शकटदास को फांसी पर लटकाया ही चाहते थे कि सिद्धार्थक उसे वध्य—भूमि से लेकर भाग गया।

चाणक्य—(स्वगत) वाह ! सिद्धार्थक ! वाह ! तुमने कार्य आरंभ कर दिया ! (प्रकट) क्या जबरदस्ती लेकर भाग गया ? (क्रोधपूर्वक) वत्स ! भागुरायण से कहो कि—शीघ्र ही उसे जाकर खूब साधे

(बाहर जाकर शिष्य का पुनः प्रवेश)

शिष्य—(दुःखपूर्वक) गुरुजी ! अहा ! बड़ा बुरा हुआः—भागुरायण भी भाग गया।

चाणक्य—(स्वगत) जाओ, अपना काम पूरा करो। (क्रोध-सा प्रकट करके, प्रकट) वत्स ! दुखी मत होओ, मेरी ओर से भद्रभट पुरुषदत्त, हिंगुरात, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्मा से शीघ्र जाकर कहो कि—दुरात्मा भागुरायण को पकड़ें।

शिष्य—जो गुरुजी की आज्ञा।

(बाहर जाकर शिष्य का पुनः प्रवेश)

शिष्य—(दुःखपूर्वक) गुरुजी ! अहो ! बड़े दुःख की बात है ! सारी प्रजा में ही हलचल मच गई ! वे भद्रभट आदि भी पहिले ही अन्धेरे-अन्धेरे भाग गए।

चाणक्य—(स्वगत) सभी का मार्ग मंगलमय हो ! (प्रकट) वत्स ! दुखी मत होओ। देखो—

जो भागे कुछ सोच पूर्व मन में, वे तो गये पूर्व ही,
जाने की ठान लें हृदय में वे, जो यहां हैं अभी;
सेनाएँ बल-हीन, एक, जिसपे, वो कार्य की साधिका,
नंदोन्मूलन में लखा बल अहो ! मेधा न त्यागे मुझे ॥२६॥

(उठकर आकाश की ओर इस प्रकार टकटकी बांधकर मानो लक्ष्य वस्तु संमुख दीख पड़ती हो।) मैं दुरात्मा भद्रभट आदि को अभी पकड़ता हूं। (स्वगत) दुष्ट राक्षस ! अब कहां जाएगा ? यह मैं शीघ्र ही—

स्वच्छंद अकेले चरने वाले, बढ़ा हुआ है जिसका दान,
बढ़े हुए बल मद से करते, यत्र-तत्र उद्योग महान,
वृषल-हेतु, निज मति से करके, सचमुच अपने आज अधीन,
वन्य-मतंगज-तुल्य करूंगा तुमको अब मैं कार्य-निलीन ॥२७॥

(प्रस्थान)

दूसरा अंक

स्थान—राजपथ

(संपेरे का प्रवेश)

संपेरा—

तंत्र-युक्ति जो जानते, सम्यक् मंडल ज्ञान,
अहि-नृप-सेवक वे, जिन्हें मंत्र-सुरक्षा-ध्यान ॥१॥

(आकाश की ओर देखकर) आर्य ! क्या कहते हो—तुम कौन हो ? 'मैं जीर्णविष नाम का संपेरा हूँ ।' (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो—'मैं भी साँप के साथ खेलना चाहता हूँ ?' अच्छा यह तो बताइए, आप काम क्या करते हैं ? (फिर आकाश की ओर देख कर) क्या यह कहते हो—'मैं राजकुल-सेवक हूं ?' तो आप तो साँप के साथ खेलते ही हैं । (फिर आकाश की ओर देख कर) क्या कहते हो—'कैसे ?' मंत्र तथा औषधि से अपरिचित मदारी, अंकुश-रहित मद-मत्त हाथी का महावत और अधिकार पाकर अभिमान में चूर हुआ राज-सेवक ये तीनों अवश्य ही नष्ट हो जाते हैं । क्यों ! यह देखते ही देखते आँखों से ओझल हो गया ! (फिर आकाश की ओर देख कर) आर्य ! तुम फिर क्या कहते हो—'इन पिटारियों में क्या है ?' आर्य ! इनमें सर्प हैं जिनके द्वारा मैं अपनी आजीविका चलाता हूं ! (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहते हो—'देखना चाहता हूँ ? 'कृपा करें, कृपा करें आर्य ? क्योंकि यह स्थान ठीक नहीं है । यदि आप अधिक उत्सुक हैं, तो आइए; इस स्थान पर दिखाऊंगा । (फिर आकाश की ओर देखकर)

क्या कहते हो—'यह अमात्य राक्षस का घर है, यहाँ मैं न जा पाऊंगा?' अच्छा तो जाएं आर्य। जीविका के प्रसाद से मैं तो यहाँ जा सकता हूं। क्यों? यह भी चला गया? (चारों ओर देख कर स्वगत) ओहो? बड़े आश्चर्य की बात है? जब मैं चाणक्य की बुद्धि से परिरक्षित चन्द्रगुप्त को देखता हूं, तब मुझे राक्षस का प्रयत्न निष्फल ही प्रतीत होता है और जब मैं राक्षस की बुद्धि से परिरक्षित मलयकेतु की ओर दृष्टि दौड़ाता हूं, तब मेरे मन में ऐसा भान होता है कि चन्द्रगुप्त का राज्य अब गया? देखो—

कौटिल्य-मति-रज्जु से जकड़ी है जिसकी आकृति चंचल,
आज मानता मौर्य-वंश की लक्ष्मी को मैं अहो! अचल;
फिर भी उस राक्षस के द्वारा विचलित-सी मैं जान रहा,
उपाय-रूप करों से उसको खिंचती-सी मैं मान रहा ॥२॥

तो इस प्रकार इन दोनों सुनीतिशाली मंत्रियों के विरोध में नंद-कुल की राज-लक्ष्मी संशय में पड़ी है। क्योंकि—

युद्ध मचाते वन्य-गजों के मध्य पड़ी हथिनी जैसे
महाविपिन में संशय-युत हो भय-कंपित होती, ऐसे
सचिव-युगल के मध्य-पतित यह लक्ष्मी संशय-ग्रस्त हुई,
इधर उधर है आती जाती पाती अति दुःख त्रस्त हुई ॥३॥

तो अब मैं अमात्य राक्षस से मिलूं। (घूमकर खड़ा हो जाता है)

(अपने घर में आसन पर बैठे हुए चिंता में डूबे हुए राक्षस का सेवक के साथ प्रवेश)

राक्षस—(ऊपर की ओर देखकर, आँखों में आंसू भर कर ओह! बड़े दुःख की बात है!—

नीति-पराक्रम-गुण से जिसने शांत किए रिपु वृष्णि-समान,
नंद-वंश वह नष्ट किया जब विधि ने करुणा-हीन महान,
चिंतातुर हो निशि-दिन जगते मेरी वह यह चित्र-कला !
भीत-विना फल-हीन हुई हा ! मैं क्या इसमें करूं भला ॥४॥

अथवा—

हो पर-सेवा-रत जो करता अतिशय नीति-प्रयोग,
हेतु न भक्ति-हीन हूं अथवा चाहूँ इन्द्रिय-भोग;
प्राण-भीरुता नहीं प्रतिष्ठा की इच्छा है हेतु;
अरि-विनाश से तुष्ट स्वर्ग में हों बस नृप-कुल-केतु ॥५॥

(आकाश को ओर देखता हुआ आँखों में आँसू भरकर)

भगवती लक्ष्मी ! तू बड़ी अगुणज्ञा है । क्योंकि—

आनंद-हेतु तज हा ! नृप नंद को भी,
क्यों है बनी वृषल की अब प्रेमिका तू ?
होता विनष्ट मद हस्ति-विनाश में ज्यों,
तू भी न लीन उनमें चपले ! हुई क्यों ? ॥६॥

और अरि कुल-हीना !
जले का पृथ्वी में प्रथित कुल वाले नृप अहो ।
वरा स्वामी पापे ! कुल-रहित जो मौर्य नृप को ?
कुशा-फूलों का ज्यों चपल अगला भाग अथवा,
तथा नारी-प्रज्ञा पुरुष-गुण जाने न जग में ॥७॥

और अरी ! ढीठ ! तो मैं तेरे आश्रय को ही नष्ट किये देता हूं जिससे कि तेरी सारी इच्छाएं धरी रह जायंगी । (सोचकर) जो मैं अपने प्रगाढ़ मित्र चंदनदास के घर अपने परिवार को धरोहर रखकर नगर छोड़कर चला आया हूं, यह मैंने अच्छा ही किया है । क्योंकि वहां रहने वाले महाराज के सेवक, जिनका कार्य हमारे कार्य से अभिन्न है, यह सोचकर कि 'कुसुमपुर के आक्रमण के विषय में राक्षस उदासीन

नहीं है' अपने उद्योग में ढील नहीं करेंगे। वहां मैंने, चंद्रगुप्त के शरीर का नाश करने को स्वयं नियुक्त किए हुए विष देने वाले पुरुषों को संगठित करने के लिए और शत्रु की चालों को व्यर्थ करने के लिए, बहुत-सा धन देकर शकटदास को छोड़ दिया है। और प्रतिक्षण शत्रुओं का समाचार जानने के लिए और उनके संगठन को भंग करने के लिए जीवसिद्धि आदि मित्रों को नियुक्त कर दिया है। इसलिए इस विषय में अधिक क्या कहूँ?—

पुत्र जिन्हें हैं इष्ट, स-कुल वे राज तत्क्षण,
हरि-शावक के सदृश मरे कर जिसका पोषण,
निज मति-शर से बनूं उसी का जीवन-भेदक,
गुप्त-रूप से दैव न हो यदि उनका रक्षक ॥८॥

(कंचुकी का प्रवेश)

कंचुकी—

कुचल नंद, चाणक्य-नीति ने,
किया मौर्य को पुर-अधिराज;
धर्म-परायण किया मुझे त्यों,
इच्छा मसल, जरा ने आज;
बढ़ते देख मौर्य को राक्षस
चाहे जय करना जैसे,
ठीक वही मम संग लोभ की
बात, करे पर जय कैसे? ॥९॥

(देखकर) ये अमात्य राक्षस हैं। (घूमकर और पास जाकर) मंत्री जी! कल्याण हो आपका।

राक्षस—आर्य! जाजलि! मैं अभिवादन करता हूं। प्रियंवदक! आर्य के लिए आसन ले आओ।

(प्रियंवदक का प्रवेश)

प्रियंवदक—यह रहा आसन, आर्य विराजें।

कंचुकी—(अभिनयपूर्वक बैठ कर) मंत्री जी! कुमार मलयकेतु ने अमात्य को सूचित किया है कि—आर्य ने चिरकाल से निज शरीर के उचित शृङ्गार को छोड़ दिया है, इससे मेरे हृदय को बड़ा कष्ट होता है। यद्यपि स्वामी के गुणों को सहसा ही नहीं भुलाया जा सकता, फिर भी आर्य मेरा कहना मान लें, तो अच्छा है। इतना कह आभूषणों को दिखाकर) मन्त्रीजी! कुमार ने यह आभूषण अपने शरीर से उतार कर भेजे हैं, आर्य इन्हें धारण कर सकते हैं।

राक्षस—आर्य! जाजलि! मेरी ओर से कुमार से कहदो कि—आपके गुणों के प्रेम के कारण मैं स्वामी के गुणों को भूल गया हूं। किंतु—

नर-देव! जब तक नष्ट कर रिपु-चक्र मैं तुमको नहीं
करता समर्पित नृप-भवन में स्वर्ण-सिंहासन वही,
तब तक अहो! परिभव-मलिन ये अंग मम कहता यही,
बल-हीन सकते धार कुछ भी भूषणादिक हैं नहीं ॥१०॥

कंचुकी—मंत्रीजी! आपके नेतृत्व में कुमार के लिए यह सुलभ है! तो कुमार की प्रथम विनती को स्वीकार कीजिए।

राक्षस—आर्य! कुमार की आज्ञा के तुल्य मुझे आपकी भी आज्ञा माननीय है, इसलिए मैं कुमार की आज्ञा का पालन करता हूं।

कंचुकी—(अभिनयपूर्वक आभूषणों को पहनाकर) कल्याण हो आपका। मैं जाता हूं।

राक्षस—आर्य! मैं प्रणाम करता हूं।

(कंचुकी का प्रस्थान)

राक्षस—प्रियंवदक! देखो, मुझसे मिलने के लिए कौन द्वार पर खड़ा है?

प्रियंवदक—जो आर्य की आज्ञा। (घूमकर, संपेरे को देखकर) आर्य ! तुम कौन हो ?

संपेरा—भद्र पुरुष ! मैं जीर्णविष नाम का संपेरा हूँ। मैं अमात्य राक्षस के सामने साँपों का खेल दिखाना चाहता हूँ।

प्रियंवदक—ठहरो, जब तक मैं अमात्य जी को सूचित कर दूं।

(प्रियंवदक राक्षस के समीप जाता है)

प्रियंवदक—आर्य ! यह संपेरा मंत्रीजी के सामने साँपों का खेल दिखाना चाहता है।

राक्षस—(बाँई आँख का फड़कना प्रकट करके स्वगत) क्यों ! पहले ही सर्प-दर्शन ! (प्रकट) प्रियंवदक ! सर्प-दर्शन के लिए हम उत्सुक नहीं हैं। इसलिए इसे कुछ देकर विदा करो।

प्रियंवदक—जो आर्य की आज्ञा। (घूमकर संपेरे के समीप जाकर) भद्र पुरुष ! मंत्री जी साँपों का खेल नहीं देखना चाहते; वे विना देखे ही तुम्हें यह उपहार देते हैं।

संपेरा—भद्र पुरुष ! मेरी ओर से अमात्य जी से कहदो कि—'मैं केवल संपेरा नहीं हूँ। मैं कवि भी हूँ। तो यदि अमात्य साँपों का खेल देखकर उपहार नहीं देते, तो यह पत्र तो पढ़ने की कृपा करें।

(पत्र देता है)

प्रियंवदक—(पत्र लेकर राक्षस के पास जाकर) मंत्री जी ! यह संपेरा सूचित करता है कि–'मैं केवल संपेरा नहीं हूँ। मैं कवि भी हूँ। तो यदि अमात्य साँपों का खेल देखकर उपहार नहीं देते, तो यह पत्र तो पढ़ने की कृपा करें'।

राक्षस—(पत्र लेकर पढ़ता है)—

पीकर मधुर कुसुम-रस, कौशल से निज आर्य !
उसे उगलता जो यहां, करता वह पर-कार्य ॥११॥

राक्षस—(स्वगत) अहा ! 'मैं कुसुमपुर का वृत्तांत जानने

वाला आपका गुप्तचर हूँ' यह इस कविता का अर्थ है। आः! मन के कार्य-व्याकुल और बहुत से गुप्तचर होने के कारण मैं भूल गया था; अब मुझे स्मरण आया है। यह स्पष्ट है कि यह संपेरा बना हुआ विराधगुप्त कुसुमपुर से आया है। (प्रकट) प्रियंवदक! इसको बुला लो; यह अच्छा कवि है; मैं इसकी कविता सुनना चाहता हूं।

प्रियंवदक—जो आर्य की आज्ञा।

(संपेरे के समीप जाता है)

प्रियंवदक—चले आइए, आर्य!

संपेरा—(अभिनयपूर्वक समीप जाकर और देखकर स्वगत) अहो! ये मन्त्रीजी विराजमान हैं।

लक्ष्मी यद्यपि है झुकी, चंद्रगुप्त की ओर।
मिलने देता है नहीं, इनका यत्न कठोर ॥१२॥

(प्रकट) जय हो, जय हो मंत्री जी की।

राक्षस—(देखकर) अहो! विराध······[बीच में ही स्मरण-सा करके] प्रियंवदक! अब साँपों के साथ मन बहलायेंगे; इसलिए परिचारक लोग विश्राम करें। तुम भी अपने स्थान पर जाओ!

प्रियंवदक—जो मंत्रीजी की आज्ञा!

(सेवकों के साथ प्रस्थान)

राक्षस—मित्र! विराधगुप्त! इस आसन पर बैठो।

विराधगुप्त—जो मंत्रीजी की आज्ञा।

(अभिनयपूर्वक बैठ जाता है)

राक्षस—(दुःखपूर्वक गौर से देखकर) ओह! महाराज के चरण-कमलों के उपासक जनों की ऐसी दुर्दशा!

(रोने लगता है)

विराधगुप्त—मंत्रीजी! शोक न कीजिए; वह समय दूर नहीं है, जब कि आप हमें अवश्य ही पुरानी अवस्था को पहुँचा देंगे।

राक्षस—मित्र ! विराधगुप्त ! अब कुसुमपुर का समाचार कह सुनाओ।

विराधगुप्त—मंत्रीजी ! कुसुमपुर का वृत्तांत बड़ा लम्बा-चौड़ा है; तो आज्ञा कीजिए, कहाँ से कहना आरम्भ करूं !

राक्षस मित्र ! चन्द्रगुप्त ने जब से नगर में प्रवेश किया है, तब से हमारे नियुक्त किए हुए विष देने वाले पुरुषों ने क्या किया, यह मैं आरम्भ से सुनना चाहता हूँ।

विराधगुप्त—यह मैं आपको सुनाता हूं। चाणक्य की बुद्धि से संचालित, शक, यवन,किरात, काम्बोज, पारसीक, बाल्हीक आदि से युद्ध होने के कारण प्रलय-काल में उछलते हुए जल वाले सागरों का अनुकरण करके वाली चन्द्रगुप्त और पर्वतेश्वर की सेनाओं ने कुसुमपुर को चारों ओर से घेर लिया।

राक्षस—(तलवार खींचकर क्रोधपूर्वक) आः मेरे रहते कौन कुसुमपुर को घेर सकता है? प्रवीरक ! प्रवीरक ! अब जल्दी हो—

प्राकारों पर शर बरसावें, धन्वी योद्धा चारों ओर,
द्वारों पर डट जायँ मतंगज, भेदें हस्ति-घटा घनघोर;
रख प्राण हथेली पर जो निर्बल रिपु-बल ने विक्रम-उत्सुक
कूच करें वे एक हृदय हो, संग में मेरे यश इच्छुक ॥१३॥

विराधगुप्त—मंत्री जी ! क्रोध न कीजिए; मैं यह बीती बात कह रहा हूँ।

राक्षस—(गहरी साँस लेकर) दुःख की बात है ! क्या यह वृत्तांत है? मैंने तो समझा कि यह वही समय है ! (तलवार छोड़-कर आँखों में आँसू भर कर) हा ! देव नन्द ! राक्षस के प्रति तुम्हारी महती कृपा को मैं भूला नहीं हूँ ! ऐसे समय में तुमने—

यह हस्ति-घटा जहां जाती चली घन-नील, वहीं बस राक्षस जावे,
इस नीर-प्रवाह के तुल्य चली हय-सेना को राक्षस दूर भगावे,

इस पैदल फौज को, काट सवेग, अभी वह राक्षस स्वर्ग पठावे,
यह आज्ञा मुझे जब दी, समझा, पुर राक्षस-सृष्टि अनेक रचावे
॥१४॥

तब फिर ?

विराधगुप्त—तब, कुसुमपुर को चारों ओर से घिरा हुआ देखकर जब महाराज सर्वार्थसिद्धि पुर-वासियों पर बहुत दिनों तक होने वाले उपरोध-जन्य महान अत्याचार को सहन न कर सके, तो वे, उस अवस्था में पुर-वासियों की अनुमति से सुरंग के द्वारा निकल कर तपोवन को चले गये। स्वामी न होने से आपकी सेनाओं के सब प्रयत्न ढीले पड़ गए। नगर में जो चन्द्रगुप्त की जय-घोषणा न करने का साहस करते थे, वे आपकी सेना के ही आदमी हैं—ऐसा अनुमान किया जाने लगा। और आप नंद-राज्य को पुनः प्राप्त करने के उद्देश्य से सुरंग के द्वारा बाहर निकल गए और चंद्रगुप्त को मारने के लिए जो विष-कन्या आपने नियुक्त की थी, उसने बेचारा पर्वतेश्वर मारा गया।

राक्षस—मित्र ? देखो, कैसे आश्चर्य की बात है—

रक्खी अर्जुन-प्राण-नाश करने ज्यों शक्ति थी कर्ण ने,
रक्खी त्यों विष-कन्यका निधनको मैंने अहो! मौर्य को।
मारा था उसने घटोत्कच यथा श्री विष्णु के श्रेय के,
मारा पर्वतराज हाय ! इसने कौटिल्य के श्रेय को ॥१५॥

विराधगुप्त—मंत्री जी ! दैवेच्छा ! क्या किया जाय ?

राक्षस—तब, फिर ?

विराधगुप्त—तब, कुमार मलयकेतु, पिता के वध से घबराकर, कुसुमपुर छोड़ कर चला गया और पर्वतेश्वर के भाई वैरोचक को आश्वासन दे नीच चाणक्य ने, नंद-भवन में चंद्रगुप्त के प्रवेश को प्रसिद्ध करके, कुसुमपुर-निवासी सभी शिल्पियों को बुलाकर कहा कि—क्योंकि ज्योतिषियों के कथनानुसार आज ही आधी रात के समय चंद्रगुप्त

नंदभवन में प्रवेश करेंगे, इसलिए प्रथम-द्वार से लेकर सारे राजमहल की देख-भाल कर लो।' इस पर शिल्पियों ने कहा कि—'आर्य ! जब शिल्पी दारुवर्मा को यह पता लगा कि महाराज चंद्रगुप्त आज नंद-भवन में प्रवेश करेंगे, तो उसने पहले ही स्वर्णमय तोरण की रचना को ठीक-ठाक करके प्रथम राज-द्वार को सजा दिया है। अब हम भीतर ठीक करेंगे।' तब जड-बुद्धि चाणक्य ने दारुवर्मा की 'बिना कहे ही राज-भवन के द्वार को सज्जित किया है' इस बात से प्रसन्न हो कर दारुवर्मा की निपुणता की बड़ी प्रशंसा की और कहा—'दारुवर्मा ! शीघ्र ही तुम्हें इस चातुर्य का उचित फल मिलेगा।'

राक्षस—[उद्विग्न होकर] मित्र ! जड-बुद्धि चाणक्य कैसे प्रसन्न हो सकता है ? मेरे विचार में, दारुवर्मा का प्रयत्न या तो निष्फल होगा या उसका बुरा परिणाम होगा। क्योंकि इसने, मति भ्रष्ट होने के कारण अथवा अत्यंत राजभक्त होने के कारण, आज्ञा-काल की प्रतीक्षा न करके, जड-बुद्धि चाणक्य के मन में महान संशय उत्पन्न कर दिया है अच्छा, फिर ?

विराधगुप्त—तब दुष्ट चाणक्य ने, शिल्पियों और नगर-निवसियों को इस बात की सूचना देकर कि—अनुकूल लग्न होने के कारण आज आधी रात के समय चंद्रगुप्त का नंद-भवन में प्रवेश होगा, उसी समय पर्वतेश्वर के भाई वैरोचक और चंद्रगुप्त का एक आसन पर बैठ कर पृथ्वी के राज्य को दोनों में आधा-आधा बांट दिया।

राक्षस—क्या पर्वतेश्वर के भाई वैरोचक को पूर्व प्रतिज्ञात आधा राज्य दे दिया ?

विराधगुप्त—जी हाँ।

राक्षस—[स्वगत] सच, इस महाधूर्त ब्राह्मण ने उस बेचारे को भी किसी गुप्त-उपाय से मार देने का निश्चय करके, पर्वतेश्वर की मृत्यु से उत्पन्न अपयश को दूर करने के लिये यह संसार को विश्वास दिलाने की बात सोची है ! [प्रकट] तब, फिर !

विराधगुप्त – तब, यह तो पहले ही प्रसिद्ध कर दिया गया था कि आधी रात के समय चन्द्रगुप्त नंद-भवन में प्रवेश करेगा। तो उसने क्या किया कि वैरोचक का अभिषेक किया; उसे निर्मल मोतियों की लड़ियों से सुसज्जित वस्त्र-कवच से अलंकृत किया गया; सुन्दर सिर पर मणियों का बना मुकुट बड़ी दृढ़ता के साथ बांधा गया; गले में सुगन्धित कुसुमों की मालाएं यज्ञोपवीत के समान पहनाई गईं, जिन से उसका वक्षःस्थल जगमगाने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके अत्यंत परिचित मित्र भी उसे न पहचान सके। फिर जब वैरोचक चाणक्य की आज्ञा से चंद्रलेखा नामक चंद्रगुप्त की हथिनी पर चढ़कर, चन्द्रगुप्त के अनुगामी राजाओं के साथ बड़ी तेज़ी से महाराज नंद के भवन में प्रवेश करने लगा. तब आपके नियुक्त किये हुए शिल्पी दारुवर्मा ने उसे चंद्रगुप्त समझकर उसके ऊपर यंत्र-तोरण गिराने के लिए तैयार कर लिया। इसी समय चंद्रगुप्त के अनुगामी राजा लोग तो बाहर घोड़ों को रोककर खड़े हो गए और आपके ही नियुक्त किए हुए चंद्रगुप्त के महावत वर्वरक ने. सोने की छड़ी के भीतर छिपी हुई छुरी को खींचने की इच्छा से अपने सोने की गुप्ती को, जिस पर सोने की जंजीर लटक रही थी, हाथ में ले लिया।

राक्षस – दोनों के ही यत्न बे मौके हैं। तब, फिर ?

विराधगुप्त – इसके बाद जब हथिनी ने देखा कि मुझ पर अंकुश पड़ने ही वाला है, तो वह अधिक तेज होने से एकदम दौड़ पड़ी। उसके बाद, पहली चाल का ध्यान करके पकड़ कर छोड़े हुए, बिना लक्ष्य ही गिरते हुए यंत्र-तोरण के द्वारा, दारुवर्मा ने,बेचारे वर्वरक को जिसका हाथ छुरी को खींचने में व्यग्र था और जो वैरोचक को प्राप्त न कर सका था, चन्द्रगुप्त समझकर मार दिया। उसके बाद दारुवर्मा ने,यंत्र-तोरण के गिरा देने से अपनी मृत्यु को निश्चित समझ कर,झटपट तोरण के उत्तुंग शिखर पर चढ़कर यन्त्र को चलाने वाली लोहे की कील को हाथ में लेकर उसके द्वारा हथिनी पर सवार हुए बेचारे वैरोचक को मार डाला।

राक्षस—दुःख है ! दो अनर्थों ने आ घेरा ! चंद्रगुप्त तो बच गया और वैरोचक तथा बर्वरक दोनों मारे गए ! (आवेगपूर्वक स्वगत) ये दोनों मारे गए, दैव ने हमें मार दिया ! (प्रगट) अच्छा तो वह शिल्पी दारुवर्मा कहां है ?

विराधगुप्त—उसे वैरोचक के आगे चलने वाले पदातियों ने ढले मार कर मार डाला ।

राक्षस—(आंखों में आंसू भर कर) ओह ! बड़े दुःख की बात है कि प्रियमित्र दारुवर्मा हमें छोड़ कर चल बसा ! अच्छा तो वहां के निवासी वैद्य अभयदत्त ने क्या किया ?

विराधगुप्त—मन्त्रीजी ! उसने सब कुछ किया ।

राक्षस—(हर्षपूर्वक) क्या दुरात्मा चंद्रगुप्त को मार दिया ?

विराधगुप्त—मन्त्रीजी ! दैव वश मरने से बच गया ।

राक्षस—(दुःखपूर्वक) तो तुम किस लिए अब सन्तुष्ट होकर कह रहे हो कि—'उसने सब कुछ किया ?'

विराधगुप्त—मन्त्री जी ! उसने विष-चूर्ण से मिश्रित औषध चन्द्रगुप्त के लिए तैयार की । किंतु दुष्ट चाणक्य ने उसकी देख-भाल की और स्वर्ण-पात्र में उसका रंग बदला हुआ जानकर चंद्रगुप्त से कहा कि-'चन्द्रगुप्त ! इस औषध में विष मिला जान पड़ता है, इसे न पीना' ।

राक्षस—वह ब्राह्मण सचमुच बड़ा धूर्त है ! अच्छा, उस वैद्य का क्या ढंग है ?

विराधगुप्त—उसे वही औषध पिला दी और वह मर गया ।

राक्षस—(दुःख से) अ ह ह ! आयुर्वेद का प्रकांड पंडित सदा के लिए संसार से विदा हो गया ! भद्रपुरुष ! अच्छा तो शयनागार में नियुक्त उस प्रमोदक का क्या हुआ ?

विराधगुप्त—उसका जीवन समाप्त हुआ ।

राक्षस—(दुःखपूर्वक) सो कैसे ?

विराधगुप्त—इस मूर्ख ने आपके दिए महान धन को पाकर, खूब बढ़ा-चढ़ा कर खर्च कर ठाठ-बाट रचना आरंभ किया। तब, दुष्ट चाणक्य ने उससे जब यह पूछा कि—'तुम्हारे पास यह इतना धन कहां से आया ?' तो वह तरह-तरह की बातें बनाने लगा। इस पर दुष्ट चाणक्य ने उसे आश्चर्यजनक रीति से मरवा डाला।

राक्षस—(उद्विग्न होकर) क्यों ! यहां भी दैव ने हम पर ही प्रहार किया ? अच्छा सोते हुए चन्द्रगुप्त के शरीर पर प्रहार करने वाले बीभत्सक आदि का क्या समाचार है ?

विराधगुप्त—मंत्री जी ! बुरा समाचार है ?

राक्षस—(दुःख पूर्वक) कैसे बुरा समाचार है ? क्या उन्हें, वहाँ रहते हुए, नीच चाणक्य ने जान लिया ?

विराधगुप्त—जी हां।

राक्षस—सो कैसे ?

विराधगुप्त—चंद्रगुप्त के शयनागार में जाने के पहले ही दुरात्मा चाणक्य ने वहां घुसते ही चारों ओर दृष्टि दौड़ाई; उसके बाद उसने भीतर के एक छिद्र में से चावल के टुकड़े लेकर निकलती हुई चींटियों की पंक्ति को देखकर यह निश्चय कर लिया कि इस घर के भीतर पुरुष रहते हैं, इसलिए उसने उस शयनागार में आग लगवा दी और जब वह जलने लगा, तो आंखों में धुआं भर जाने और बाहर निकलने के मार्ग के पहले ही बंद कर देने के कारण मार्ग न मिलने से वे सभी बीभत्सक आदि वहीं आग में जल गए और मर गए।

राक्षस—(आँखों में आंसू भर कर) मित्र ! देखो, चन्द्रगुप्त के सौभाग्य से सभी मर गए। (चिंतापूर्वक) मित्र ! देखो, चन्द्रगुप्त का भाग्य कैसा प्रबल है ! क्योंकि—

कन्या जो विष की बनी निभृत थी भेजी उसे मारने,
मारा पर्वतराज हाय ! इसने राज्यार्द्ध भागी वही।

यंत्रों में, विष आदि में नियत जो, वे हा ! उन्हीं से मरे,
मेरी नीति अनेक श्रेय करती, उसी मौर्य का ॥१६॥
विराधगुप्त—फिर भी पकड़े हुए काम को छोड़ना नहीं चाहिए देखो—

विघ्न,भीति से नीच न करते, कभी कार्य आरंभ,
मध्यम विघ्न-विहत हो रुकते, करके भी प्रारंभ
बार-बार भी आकर रोकें, चाहे विघ्न महान,
कार्य हाथ ले पूरा करते, तुम-से ही गुणवान ॥१७॥
और सुनो—

यदि फेंकता पृथ्वी न क्या दुख शेष को होता नहीं ?
होता न जो स्थिर, भ्रम अहो ! दिवसेश को होता नहीं ?
पकड़ी हुई पर बात तजने में सुजन लज्जित महा,
'निर्वाह पकड़ी बात का' यह गोत्र-व्रत उनका यहां ॥१८॥
राक्षस—मित्र ! 'पकड़ी बात को नहीं छोड़नो चाहिए' यह तो आप लोग प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं। तब फिर ?

विराधगुप्त—तब से लेकर नीच चाणक्य चंद्रगुप्त के शरीर के विषय में पहले की अपेक्षा हजारों गुना अधिक सावधान रहता है। उसने कुसुमपुर-वासी आपके विश्वस्त पुरुषों को 'ये ही इस प्रकार की बातें करते हैं' यह पता लगाकर दंड दे दिया।

राक्षस—(दुखी होकर) मित्र ! कहो, कहो, किस किसको दंड दे दिया ?

विराधगुप्त—मंत्री जी ! पहले-पहल तो उसने क्षपणक जीवसिद्धि को अपमान पूर्वक नगर से निकाल दिया।

राक्षस—(स्वगत) इतनी बात सही जा सकती है क्योंकि वह विषयासक्ति-हीन है, निर्वास उसे दुखी न करेगा। (प्रकट) मित्र ! उसे किस अपराध के कारण नगर से निकाल दिया ?

विराधगुप्त—इसलिए कि—'इस दुरात्मा ने राक्षस के द्वारा प्रयुक्त विष-कन्या के द्वारा पर्वतेश्वर को मार डाला।'

राक्षस—(स्वगत) वाह ! कौटिल्य ! वाह !

दूर किया निज दोष, दिया वह तुमने हमको,
अर्द्ध-राज्य, अधिकारि उसे भी सौंपा यम को,
एक नीति का बीज यदपि तुम हो बोते,
भिन्न-भिन्न फल किन्तु यहाँ पर उसके होते ॥१६॥

(प्रकट) तब फिर

विराधगुप्त—उसके बाद उसने शकटदास को, यह प्रसिद्ध करके कि—इसने चंद्रगुप्त को मारने के लिए दारुवर्मा आदि को नियुक्त किया था, फांसी पर लटका दिया।

राक्षस—(आंखों में आसू भरकर) हा मित्र शकटदास! तुम्हारी यह इस प्रकार की मृत्यु अनुचित है। अथवा तुमने स्वामी के लिए प्राणों की बलि चढ़ाई है, इसलिए तुम शोचनीय नहीं हो; इस विषय में तो हम ही शोचनीय हैं, जो नंद-वंश के नष्ट होने पर भी प्राणों से मोह करते हैं।

विराधगुप्त—मंत्री जी ! आप स्वामी के कार्य को सिद्ध करने के लिए ही प्रयत्नशील हैं।

राक्षस—मित्र !

जीवन-इच्छा से न, रख इसी बात का ध्यान।
जाते नृप पीछे न हम स्वर्ग कृतघ्न महान ॥२०॥

विराधगुप्त—मंत्री जी ! यह बात यों नहीं है। ('जीवन-इच्छा से न……' इत्यादि फिर पढ़ता है।

राक्षस—मित्र ! कहो, मैं दूसरी-भी मित्र-विपत्ति सुनने के लिए तैयार हूँ।

विराधगुप्त—उसके बाद चंदनदास को जब इस बात का पता लगा, तो उसने भयभीत होकर अमात्य के परिवार को अन्य स्थान पर पहुंचा दिया।

मेरी इच्छा है कि मैं इस पर मोहर लगाकर इसे अमात्य के ही समीप रख छोड़ूं। जब मुझे इसकी आवश्यकता होगी, तब ले लूंगा।

राक्षस—भद्र पुरुष! यही सही, इसमें क्या हानि है? शकटसास! ऐसा ही करो।

शकटदास—जो आज्ञा! (मोहर देखकर धीरे से) मंत्री जी! इस मुद्रा पर आपका नाम खुदा है।

राक्षस—(देखकर दुःखपूर्वक विचार करता हुआ स्वगत) यह तो सचमुच नगर से निकलते हुए मेरे हाथ से ब्राह्मणी ने अपने मनो-विनोदार्थ ले ली थी! तो इसके हाथ में कैसे पहुंच गई! (प्रकट) भद्र सिद्धार्थक! तुम्हें यह कहां से मिली?

सिद्धार्थक—मंत्री जी! कुसुमपुर में सेठ चंदनदास नाम का एक जौहरी रहता है, उसके घर के दरवाजे पर पड़ी थी मैंने उठा ली।

राक्षस—यह हो सकता है।

सिद्धार्थक—मंत्रीजी! क्या यह हो सकता है।

राक्षस—भद्र! यही कि धनशालियों के घर में इस प्रकार की वस्तु पड़ी हुई मिल सकती है।

शकटदास—मित्र! सिद्धार्थक! इस मुद्रा पर अमात्य का नाम खुदा है, इसलिए इस मुद्रा की अपेक्षा अधिक मूल्यवान वस्तु देकर अमात्य आपको संतुष्ट करेंगे, इसलिए यह मुद्रा दे दो।

सिद्धार्थक—आर्य! इससे मुझे संतोष है, जो अमात्य इस मुद्रा को पाकर प्रसन्न होते हैं।

(मुद्रा देता है)

राक्षस—मित्र! शकटदास! इसी मुद्रा से आप अपना सब काम किया करें।

शकटदास—जो मंत्रीजी की आज्ञा।

सिद्धार्थक—मंत्रीजी! आपसे कुछ निवेदन करूं।

राक्षस—भद्र पुरुष ! बे-खटके कहो ।

सिद्धार्थक—यह तो अमात्य जानते ही हैं कि दुष्ट चाणक्य के साथ बिगाड़कर मैं फिर पाटलीपुत्र में नहीं घुस सकता हूँ, इसलिए मैं चाहता हूँ कि अमात्य के ही सुन्दर चरणों की सेवा करु ँ ।

राक्षस—भद्र पुरुष ! यह हमें अभीष्ट है । किंतु तुम्हारी इच्छा को जानने के लिए चुपथे, तो आप यहीं रहें ।

सिद्धार्थक—(प्रसन्न होकर) आपने बड़ी कृपा की ।

राक्षस—मित्र ! शकटदास ! सिद्धार्थक के विश्राम के लिए सब प्रबंध कर दो ।

शकटदास—जो मंत्री जी की आज्ञ ।

(सिद्धार्थक के साथ प्रस्थान)

राक्षस—मित्र ! विराधगुप्त ! अब कुसुमपुर का शेष वृत्तांत कहो । क्या कुसुमपुर में रहने वाली चंद्रगुप्त की प्रजा हमारी भेद-नीति को सहन करती है ?

विराधगुप्त—मंत्री जी ! हां, सहन करती है, और राजा, मंत्री भी परस्पर झगड़ पड़ते हैं ।

राक्षस—मित्र ! उसमें क्या कारण है ?

विराधगुप्त—मंत्री जी ! उसमें कारण यह है कि जब से मलयकेतु भागा है, तब से चन्द्रगुप्त ने चाणक्य को तंग करना आरंभ कर दिया है, चाणक्य भी महाघमण्डी होने के कारण वह न सहकर चंद्रगुप्त की उन-उन आज्ञाओं को भंग करके उसके चित्त को व्याकुल करता रहता है, यह भी मैंने अनुभव किया है ।

राक्षस—(प्रसन्नतापूर्वक) मित्र ! विराधगुप्त ! तो तुम फिर यह संपेरे का वेष बनाकर कुसुमपुर ही जाओ । क्योंकि वहां वैतालिक के वेष में मेरा मित्र स्तनकलश रहता है । उससे मेरी ओर से कहना कि—'चाणक्य जब कभी अज्ञा भंग करे, तुम तभी चंद्रगुप्त को कविता

द्वारा स्तुति करके भड़कायो और अपने कार्य की करभक द्वारा सूचना देते रहो।'

विराधगुप्त—जो मंत्रीजी की आज्ञा।

(प्रस्थान)

(प्रियंवदक का प्रवेश)

प्रियंवदक—जय हो अमात्य की। मंत्रीजी! शकटदास सूचित करते हैं कि ये तीन कीमती आभूषण विकते हैं, इसलिए मंत्रीजी देखलें।

राक्षस—(देखकर स्वगत) अहो! बड़े कीमती आभूषण हैं! (प्रकट) भद्र पुरुष! शकटदास से कहो कि—विक्रेता को उचित मूल्य देकर ले लें।

प्रियंवदक—जो मंत्रीजी की आज्ञा।

(प्रस्थान)

राक्षस—(स्वगत) जब तक मैं भी चलकर करभक को कुसुमपुर भेजता हूँ। (उठकर) क्या दुरात्मा चाणक्य की चंद्रगुप्त से बिगड़ सकती है? अथवा मैं अपनी इच्छा को पूर्ण हुई समझता हूँ। क्योंकि—

चंद्रगुप्त को गर्व यही है—
'नृप-गण को देता आदेश'
गर्व यही चाणक्य-विप्र को—
'ले मम आश्रय बना नरेश'
नृपति बना है एक, अन्य ने—
किया शपथ-जलनिधि उत्तीर्ण'
कृत-कृत्य हुए उन दोनों का—
सचमुच होगा स्नेह विशीर्ण॥२३॥

(सब का प्रस्थान)

— x —

तीसरा अंक

स्थान—राज-प्रासाद की अटारी

[कंचुकी का प्रवेश]

कंचुकी —

तृष्णे! तूने विषय-गण को भोग के इन्द्रियों से
भोगा भारी यश, हत हुईं इन्द्रिया भोग में वे।
आज्ञाकारी तव मम सभी अंग ढीले पड़े हैं,
तेरे ही तो सिर पद जरा ने रखा, फूलती क्यों? ॥१॥

घूमकर आकाश की ओर देखकर] ऐ-ऐ! सुगांग प्रासाद में काम करने वाले पुरुषो! प्रातः स्मरणीय महाराज चंदगुप्त ने तुम लोगों को यह आज्ञा दी है कि—'मैं कौमुदी-महोत्सव होने के कारण अधिक सुन्दर कुसुमपुर को देखने के लिए समुत्कंठित हूं; इसलिए सुगांग प्रसाद की दर्शनीय अटारियों को सुसज्जित कर दो।' तो क्यों आप लोग विलंब कर रहे हैं? (आकाश की ओर देखकर और सुनकर) आर्य क्या यह कहते हो कि—'क्या महाराज चंदगुप्त को यह पता ही नहीं कि कौमुदी महोत्सव बंद कर दिया गया है?' आः अभागो! क्यों तुम यह मरने की बात छेड़ रहे हो? अब जल्दी ही—

संपूर्ण-शशि-कर-वृन्द-सुन्दर चंवर की छवि से पगे—
हो स्तंभ सुरभित धूप से स्रक्-जाल से अति जगमगे;
सिहांक-आसन प्राप्त कर चिरकाल तक मूर्च्छित हुई,
हो शीघ्र चन्दन-सलिल से गौ कुसुम-युत सिंचित हुई ॥२॥

(आकाश की ओर देखकर) क्या आप लोग यह कहते हैं कि—'ये हम जल्दी कर रहे हैं?' भले आदमियो! जल्दी करो, ये महाराज चंद्रगुप्त आ पहुँचे।

विषम पथों में भी स्थिर बल-युत गुरु ने इनके जो गुरु-भार
धारा विश्वासी अंगों से, उसको ढोने को तैयार
हुए खूब नव यौवन वाले उत्साही अति धैर्य-निधान
होते पथ-च्युत बाल-भाव से, खिन्न न होते कभी सुजान ॥३॥

(नेपथ्य में)

इधर को, इधर को महाराज !

(राजा तथा प्रतिहारी का प्रवेश)

राजा—(स्वगत) ऐसा राज्य सचमुच दुःखदायी होता है, जिसमें राज्य-धर्म के पालन करने में राजा परतंत्र हो। क्योंकि—

अन्य-कार्य में निरत भूप का करती स्वतंत्रता है त्याग,
है वह झूठा नरपति सचमुच, अन्य कार्य से जिसे विराग
अन्य-कार्य यदि आत्म-कार्य से अभिमत, हा ! स्वातन्त्र्य-विहीन,
सुख-अनुभव कर सकता कैसे, है जो जग में अन्य-अधीन ॥४॥

और वशी राजा लोग भी इस राज-लक्ष्मी को बड़ी कठिनता से संभाल सकते हैं। क्योंकि—

तजती उग्र मनुज को, मृदु में परिभव भय से है स्थिति-हीन
अज्ञ न इष्ट इसे, अति पंडित जन में भी अनुराग-विहीन;
शूरों से भी अति घबराती, हंसती भीरु पुरुष एकांत,
अवसर-युत-वेश्या-सम लक्ष्मी दुख से आश्रयणीय नितांत ॥५॥

और आर्य की आज्ञा है कि कृत्रिम कलह करके मुझे कुछ समय के लिए स्वतंत्र-रूप से प्रत्येक कार्य करना चाहिए और मैंने उसे पाप-सा समझकर किसी प्रकार मान भी लिया है। अथवा आर्य का उपदेश हमें निरंतर मार्ग दिखाता रहता है, इसलिए हम सदा ही स्वतंत्र हैं। क्योंकि—

शुभकार्य में रत शिष्य को गुरु रोकता जग में नहीं,
अज्ञानवश पथ-भ्रष्ट को वह रोक देता है वहीं;

उपदेश-इच्छुक सुजन अंकुश-रहित होते इसलिए,
इससे अधिक जग में नहीं स्वातंत्र्य हमको चाहिए ॥६॥
(प्रकट) कंचुकी ! सुगांग प्रासाद का मार्ग दिखाओ ।

कंचुकी—इधर को, इधर को महाराज !

राजा—(चलता है)

कंचुकी—(घूमकर) यह सुगांग प्रासाद है, महाराज धीरे-धीरे ऊपर जा सकते हैं ।

राजा—(अभिनयपूर्वक ऊपर जाकर, दिशाओं की ओर देखकर) अहा ! शरद ऋतु की निराली छवि से दिशाएँ कैसी सुन्दर हो रही हैं ।

बनी दिशाएँ सरिता-रूप ॥
पुलिन जहां पर सित घन-खंड,
निर्मलता का राज्य अखंड,
सारस-कुल-कल-गान अनूप ।
बनी दिशाएं सरिता-रूप ॥
खिले हुए नक्षत्र, कुमुद हैं,
निशि में चित्र विचित्र स-मुद हैं,
नभ से उतरीं विमल-स्वरूप ।
बनी दिशाएँ सरिता-रूप ॥७॥

❀ ❀ ❀

शरद में शिक्षित-सा संसार ।
बहे जल, कर मर्यादा भंग,
उछलती, चलतीं उग्र तरंग,
सिखाया रहना निज आधार ।
शरद में शिक्षित-सा संसार ॥
सस्य लदे जब फल भार,
झुकाया उनको अहो ! उदार,

हरा मोर-मद विष-सम अपार।
शरद में शिक्षित-सा संसार॥८॥

❀ ❀ ❀

शरद का देखो कृत्य ललाम,
सरस--कथा-कुशल -दूति-समान,
कलुषित प्रथम फिर क्षीण महान
वहु-वल्लभ-पति-पथ पर अजान,
उतार कथंचित् कर गतिमान,
ले जाती प्रसन्न गंगा को,
तरंगित सागर-पति के धाम,
शरद का देखो कृत्य ललाम॥९॥

(अभिनयपूर्वक चारों ओर देखकर) कंचुकी ? क्यों, नगर में कौमुदी-महोत्सव कहीं नहीं हो रहा है !

कंचुकी—महाराज यह ठीक है। मैंने महाराज की आज्ञा से कुसुमपुर में कौमुदी-महोत्सव की घोषणा कर दी थी।

राजा—तो फिर क्या बात है, नागरिक लोगों ने हमारी आज्ञा को क्यों नहीं माना ?

कंचुकी—(दोनों कान ढककर) शिव ! शिव ! ऐसा न कहिए, महाराज ! पृथ्वी भर में आपकी आज्ञा पहले कभी भंग नहीं हुई, फिर नागरिक लोग कैसे ऐसा कर सकते हैं ?

राजा—कंचुकी ? तब किसलिए मैं कुसुमपुर को अब भी चंद्रिकोत्सव से वंचित देख रहा हूँ ? देखोः—

कहीं न कुछ भी चहल-पहल।
स्पष्ट, चतुर बातों में सुनिपुण
चलें धूर्त-जन जिनके संग,
वेश्याओं की शून्य गली में
नहिं पृथु-घन-मंथर-गति-भंग;

लख पड़ती यह सारी नगरी
आज मुझे हा ! शांत अचल।
कहीं न कुछ भी चहल पहल ॥
कर होड़ परस्पर वैभव से,
पुर-जन शंका-हीन हुए,
आत्म-प्रिय-जन-संग न डोलें
सारस-कथा में लीन हुए।
पर्व-महोत्सव-विषयक उनकी,
मनोकामना सब निष्फल।
कहीं न कुछ भी चहल पहल ॥१०॥

कंचुकी—महाराज ! यही बात है।

राजा—सो क्या ?

कंचुकी—महाराज ! यह बात यों है…

राजा—कंचुकी सारी बात स्पष्ट कहो।

कंचुकी—महाराज ! चंद्रिकोत्सव बंद कर दिया है।

राजा—(क्रोधपूर्वक) आः ! किसने ?

कंचुकी—इससे आगे मैं महाराज कहने में असमर्थ हूँ।

राजा—कदाचित् आर्य चाणक्य ने तो दर्शकों को अत्यंत दर्शनीय वस्तु के दर्शन से वंचित नहीं किया ?

कंचुकी—महाराज ! और कौन, जिसे अपने प्राण प्यारे हैं, महाराज की आज्ञा का उल्लंघन करेगा ?

राजा—शोणोत्तरा ! मैं बैठना चाहता हूँ।

प्रतिहारी—महाराज ! यह सिंहासन है, इस पर विराजिए।

राजा—(अभिनयपूर्वक देखकर) कंचुकी ! मैं आर्य चाणक्य से मिलना चाहता हूँ।

कंचुकी—जो महाराज की आज्ञा। [प्रस्थान]

(अपने घर में आसन पर विराजमान क्रोध-युक्त चिंता का अभिनय करते हुए चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य—(स्वगत) क्यों, दुरात्मा राक्षस मेरी होड़ करता है! क्योंकि—

त्याग नगर चाणक्य ने, अहि-सम वा पद-स्पर्श
मार नंद ज्यों मौर्य को किया नरेश स-हर्ष
मौर्य-चन्द्र-श्री का तथा, करता मैं अपहार!
यह मन धर मम बुद्धि-बल लंघने को तैयार॥११॥

(आकाश की ओर इस प्रकार टकटकी बांधकर मानो राक्षस सामने दीख पड़ता हो) राक्षस! राक्षस रहने दो—इस दुष्टकर्म को।

मानो, हत सचिवों ने जिसका राज्य-तंत्र देखा-भाला,
चंद्रगुप्त यह मौर्य अहो! वह नंद नहीं है मतवाला;
तुम भी तो चाणक्य नहीं हो, केवल इतनी मिलती बात—
हम दोनों के प्रचुर वैर का बहता है बस तुल्य प्रपात॥१२॥

(सोचकर) अथवा मुझे इस विषय में मन को अधिक दुखी नहीं करना चाहिये। क्योंकि—

पुरुषों ने मम, मलयकेतु को, गुप्त वेश धर किया अधीन,
सिद्धार्थादिक दूत सभी वे आज्ञा पालन में हैं लीन।
मौर्य-चंद्र के संग कलह में रचकर सचमुच अब छल से,
भेद-कुशल रिपु, राक्षस को द्रुत पृथक् करूंगा मति-बल से॥१३॥

(कंचुकी का प्रवेश)

कंचुकी—सेवा सचमुच बड़ी दुःखदायिनी होती है! क्योंकि—

नृप, मंत्री, नृप-प्रिय-जन अथवा अन्य धूर्त जो करते वास,
राज-भवन में दया-पात्र बन, होता अहो! सभी से त्रास;
उन्मुख लखते, दीन बोलते, उदर-अर्थ दुख सहते हैं,

मान-हारिणी सेवा को बुध शुनक-वृत्ति सच कहते हैं ॥१४॥

(घूमकर और देखकर) अब मैं आर्य चाणक्य की कुटी में चलूं। (अभिनयपूर्वक भीतर जाकर और देखकर) अहो ! राजाधिराज के मंत्री के घर की ऐसी निराली छटा ! क्योंकि—

रखा हुआ पाषाण-खंड यह गोमय-भंजन,
बिछी हुई यह दाभ, जिसे हैं लाये बटु-गण;
यह घर पड़ता देख, सूखती समिधा जिस पर,
जीर्ण-शीर्ण है भीत, झुका अति जिसका छप्पर ॥१५॥

इसलिए इनका महाराज चन्द्रगुप्त को 'वृषल' कहकर पुकारना ठीक ही है क्योंकि—

जो सत्यवादी भी सुजन, कहकर वचन अति रस-पगे,
हो दीन, नृप-स्तुति-निरत नित मिथ्या प्रशंसा में लगे,
है लोभ का ही खेल यह सारा जगत में, अन्यथा
धन-लोभ-हीन मनुष्य नृप को हैं समझते, तृण यथा ॥१६॥

(देखकर डर से) ये आर्य चाणक्य बैठे हैं—

सकल लोक का कर जो परिभव एक साथ ही तेज-निधान,
अस्त-उदय नृप नन्द-मौर्य का सहसा करते विघ्न महान;
अखिल-लोक-व्यापक जो क्रम से, हिम-उष्णत्व-सृष्टि रचते,
निज छवि से उन किरण-धाम की शोभा को हैं ये हरते ॥१६॥

(भूमि पर घुटने टेककर) जय हो, जय हो आर्य की।

चाणक्य—(अभिनयपूर्वक देखकर) कंचुकी ! तुम क्यों आए हो ?

कंचुकी—आर्य ! प्रणाम के समय जल्दी करने के कारण हिलते हुए राजाओं के मुकुटों में जड़े हुए मणि-खंडों की कांति से जिनके चरण-कमल लाल बने रहते हैं, वे प्रातः स्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त भूमि पर माथा टेककर आर्य को सूचित करते हैं कि—यदि आर्य के किसी कार्य में बाधा न पड़े तो मैं आर्य के दर्शन किया चाहता हूँ।

चाणक्य—वृषल मुझ से मिलना चाहता है? कंचुकी! क्या वृपल ने यह नहीं सुना कि मैंने कौमुदी-महोत्सव बन्द कर दिया है?

कंचुकी—क्यों नहीं, आर्य!

चाणक्य—(क्रोध पूर्वक) आः! किसने कहा?

कंचुकी—(भय का अभिनय करके) दया करें आर्य; महाराज ने स्वयं ही सुगांग प्रासाद के ऊपर से देख लिया कि कुसुमपुर में चंद्रिकोत्सव नहीं मनाया जा रहा है।

चाणक्य—आः! मैं समझ गया, तुम्हीं लोगों ने मेरी अनुपस्थिति में वृषल को उभार कर नाराज कर दिया है! और क्या बात है?

कंचुकी—(भयभीत हुआ चुपचाप मुंह नीचा किये खड़ा रहता है।)

चाणक्य—आश्चर्य है, राजा के अनुचरों का चाणक्य के प्रति कितना द्वेष भाव है? अच्छा तो कहां है वृषल?

कंचुकी—(भय का अभिनय करता हुआ) आर्य! महाराज सुगांग प्रासाद की अटारी में हैं, वहीं से उन्होंने मुझे श्रीचरणों में भेजा है।

चाणक्य—(उठकर) कंचुकी! सुगांग प्रासाद का मार्ग दिखाओ।

ंचुकी—इधर को! इधर को, आर्य!

(दोनों चलते हैं)

कंचुकी—यह सुगांग प्रासाद है, आर्य धीरे से ऊपर जा सकते हैं।

चाणक्य—(अभिनयपूर्वक चढ़कर और देखकर हर्षपूर्वक स्वगत) अहो! वृषल सिंहासन पर विराजमान हैं? वाह! वाह!—

जो धनद-निरपेक्ष नन्दों ने तजा,
वह सिंहासन मौर्य से नृपवर सजा;
तुल्य नृप-गण ने तथा यह है घिरा,
कार्य ये करते सुखी मुझको निरा॥१८॥

(समीप जाकर) जय हो वृषल की।

राजा—(सिंहासन से उठकर, चाणक्य के चरण छूकर) आर्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य—(दोनों हाथ पकड़कर) उठो, उठो, वत्स !

पत्थर पर बिखरी गंगा की जल-कण-वर्षा से शीतल,
हिम-पर्वत से मणि-गण-मंडित दक्षिण जलनिधि तक अविरल
आ-आकर भय-प्रणत भूप-गण तव पद-युग पर शीश धरें,
और मुकुट-मणि-किरणों से पद-रंध्रों को भरपूर करें ॥१६॥

राजा—आर्य की दया से मैं इसका अनुभव कर ही रहा हूं, इसकी मुझे इच्छा नहीं। बैठें आर्य।

(दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं)

चाणक्य—वृषल ! हमें किसलिए बुलाया है ?

राजा—आर्य के दर्शन से निज को अनुगृहीत करने के लिए।

चाणक्य—(मुस्कराकर) वृषल ! यह विनय रहने दो, राजा लोग अधिकारी-वर्ग को निष्प्रयोजन नहीं बुलाया करते, इसलिए प्रयोजन बतलाइये।

राजा—आर्य ! चन्द्रिकोत्सव के प्रतिषेध का आपने क्या फल सोचा है ?

चाणक्य—(मुस्कराकर) वृषल ! तो क्या उलाहना देने के लिए तुमने हमें बुलाया है ?

राजा—आर्य उलाहना देने के लिए नहीं।

चाणक्य—फिर किसलिए ?

राजा—निवेदन करने के लिए।

चाणक्य—वृषल ! यदि यह बात हैं तो, शिष्य को चाहिए कि वह अवश्य गुरु की इच्छा के पीछे चले।

राजा—आर्य ! इसमें क्या संदेह है ? किंतु आर्य का कोई कार्य कभी भी निष्प्रयोजन नहीं होता, इसलिए हमें प्रश्न का अवसर मिल गया है।

चाणक्य—वृषल ! तुमने मेरे आशय को ठीक समझा। क्योंकि चाणक्य स्वप्न में भी अकारण कोई काम नहीं करता।

राजा—आर्य ! इसीलिए मुझे कारण सुनने की इच्छा वाचाल बना रही है।

चाणक्य—वृषल ! सुनो, अर्थशास्त्रकारों ने तीन प्रकार की सिद्धि का वर्णन किया है–राजाधीन, सचिवाधीन और राज-सचिवाधीन। इसलिए सचिवाधीन सिद्धि का प्रयोजन ढूंढने से तुम्हें क्या ? क्योंकि वह तो हमारे ही अधीन है, हम जान लेंगे।

राजा—(क्रुद्ध-सा होकर मुंह मोड़ लेता है)

(नेपथ्य में दो वैतालिक स्तुति-गान करते हैं)

पहला—

जो नभ-परिभवकारि-भस्म से
काश-कुसुम-छवि को हरती,
जलधर-श्यामल हस्ति-चर्म को
शशि की किरणों से भरती,
चंद्र-चंद्रिका-सम अति निर्मल
धारण करती शिर-माला,
हास-हंस-युत शिव-तनु-सम यह
शरद हरे सब दुख-ज्वाला ॥१६॥

और—

फण-मंडल उपधान जहां, वह
भुजग-अंकमय शयन महान,
तजते ही खुलने से सालस
सहती क्षण मणि-दीप-प्रभा न,
लखने में असमर्थ सजल जब
लेते स-जृंभ अंगड़ाई,

निद्रा-भंग-समय वह हरि की
दृष्टि मिची-सी हो सुखदाई ॥२०॥

दूसरा—

नर-वर ! मानों अति बल के निधि
विधि से निर्मित किसी लिए,
मद-वाही गजराज जिन्होंने
आत्मा-तेज से विजय किए,
सहते आज्ञा-भंग न कोई
तुम-से सार्वभौम ऐसे—
गर्वित मृगपति दंत-भंग को
कभी न सह सकता जैसे ॥२१॥

और—

कहलाता प्रभु प्रभु नहीं, वसन विभूषण धार।
आज्ञा-भंग न सह सकें, तुम-से प्रभु संसार ॥२२॥

चाणक्य—(सुनकर स्वगत) पहले तो देवता-विशेष का गुण-गान-स्वरूप अभी लगी शरद ऋतु का वर्णन करने वाला आशीर्वाद दिया गया है, किंतु यह दूसरी बात क्या है, यह समझ में नहीं आया। (सोचकर) आः !-जान गया यह राक्षस का काम है। आः ! दुरात्मा नीच राक्षस ! मैं तुम्हारी सब चालें देख रहा हूँ, चाणक्य सो नहीं रहा है।

राजा—कंचुकी ! इन दोनों चारणों को लाख-लाख स्वर्ण-मुद्रा दिलवा दो।

कंचुकी—जो महाराज की आज्ञा।

(उठकर चलने लगता है)

चाणक्य—(क्रोधपूर्वक) कंचुकी ! ठहरो, ठहरो, मत जाओ। वृषल ! क्यों यह अपात्र को इतना धन दे रहे हो ?

राजा—आर्य ही मुझे सब कामों से रोकने वाले हो गए, यह मेरा राज्य क्या, मानो बंधन है।

चाणक्य—वृषल! जो राजा अपना राज्य-भार स्वयं नहीं संभालते, उनमें यही तो कमी होती है। तो यदि तुम नहीं सह सकते, तो अपना काम अपने आप संभालो।

राजा—हां, हम अपना काम स्वयं संभाल लेते हैं।

चाणक्य—हम प्रसन्न हैं, हम भी अपना काम संभाल लेते हैं।

राजा—यदि यह बात है, तो मैं कौमुदी-महोत्सव के निषेध का कारण सुना चाहता हूँ।

चाणक्य—वृषल! मैं भी यह सुना चाहता हूँ कि चन्द्रिकोत्सव मनाने का क्या प्रयोजन है।

राजा—पहला प्रयोजन तो मेरी आज्ञा का पालन ही है।

चाणक्य—वृषल! मेरे भी चन्द्रिकोत्सव के निषेध करने का पहला कारण तो तुम्हारी आज्ञा भंग करना ही है। क्योंकि—

तमाल-किसलय-श्यामल जिनके
वेला-वन अति शोभित हैं,
चंचल-मछली-कुल से जिनके
अन्तर्जल अति क्षोभित हैं,
उन्हीं चार समुद्र-तटों से आ नत
नृप-गण ने आज्ञा धारी,
सिर से माला-सदृश, स्खलित वह
प्रकटाती विनय तुम्हारी ॥२३॥

राजा—मैं दूसरा प्रयोजन भी सुना चाहता हूँ।

चाणक्य—वह भी कहता हूँ।

राजा—कहिए।

चाणक्य—शोणोत्तरा! शोणोत्तरा! मेरी ओर से कायस्थ अचलदत्त से कहो कि भद्रभट आदि का वह लेख-पत्र दे दो।

प्रतिहारी—जो आर्य की आज्ञा।

(प्रतिहारी का बाहर जाकर पुनः प्रवेश)

प्रतिहारी—आर्य ! यह वह पत्र है।

चाणक्य—(पत्र लेकर) वृषल ! सुनो।

राजा—मैं सावधान हूँ।

चाणक्य—(पत्र पढ़ता है) स्वस्ति प्रातः स्मरणीय-नाम महाराज चंद्रगुप्त के अभ्युदय के साथी प्रधान-पुरुष, जिन्होंने यहाँ से भाग कर मलयकेतु का आश्रय ग्रहण किया है, उनका यह प्रमाण-पत्र है। यहाँ पहले तो हाथियों का अध्यक्ष भद्रभट, घोड़ों का अध्यक्ष पुरुषदत्त, मुख्य द्वारपाल 'द्रभानु का भांजा हिंगुरात, महाराज के कुटुम्बी महाराज बलगुप्त, महाराज का बाल्य-भृत्य राजसेन, सेनापति सिंहबल का छोटा भाई भागुरायण, मालव-नरेश का पुत्र रोहिताक्ष और क्षत्रियों में सब से अधिक मुख्य विजय वर्मा—(स्वगत) ये हम सब महाराज का कार्य करने में सावधान हैं। (प्रकट) इतनी बात इस पत्र में लिखी है।

राजा—आर्य मैं इनके विराग का कारण सुनना चाहता हूँ।

चाणक्य—वृषल ! सुनो, यहाँ जो भद्रभट और पुरुषदत्त नाम के गजाध्यक्ष और अश्वाध्यक्ष हैं, ये दोनों स्त्री, मद्य और मृगया में लीन रहते थे और हाथी, घोड़ों की देख-भाल में प्रमाद करते थे; इस लिए मैंने उनसे अधिकार छीन कर केवल जीवन-निर्वाह के लिए आजी-विका नियत कर दी थी; इसलिए ये दोनों विरक्त होकर मलयकेतु के पास जाकर अपने-अपने पद पर नियुक्त हो गए। जो ये हिंगुरात और बलगुप्त हैं, इन दोनों का भी स्वभाव बड़ा लोभी था; दिए धन को कुछ समझते ही न थे; इन दोनों ने सोचा कि संभव है, वहां जाकर बहुत मिले; इसलिए दोनों मलयकेतु की शरण में चले गए। वह भी जो आपका बचपन का सेवक राजसेन है, वह भी आपके प्रासाद से बहुत अधिक धन, हाथी, घोड़े एक साथ बड़ी भारी धन-संपत्ति पाकर, फिर

छिन जाने के भय से मलयकेतु के आश्रय में चला गया। जो यह सेनापति सिंहबल का छोटा भाई भागुरायण है, उसने भी उस समय पर्वतक के साथ मित्रता हो जाने के कारण उसके प्रति प्रेम हो जाने से 'तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मार डाला है' यह कहकर मलयकेतु को एकांत में भयभीत करके भगा दिया था। उसके बाद जब आपके विरोधी चंदनदास आर्य को दंड दिया गया, तो वह अपने अपराध से आशंकित हो भागकर मलयकेतु के समीप चला गया। उसने भी उसे अपना प्राण-रक्षक समझ कर कृतज्ञता प्रकट करने के लिए अपने सन्निकट मंत्री-पद पर नियुक्त कर दिया। जो वे रोहिताक्ष और विजयवर्मा हैं, वे भी महा अभिमानी होने के कारण आपके द्वारा निज बंधुओं को दिए गए धनादिक को न सहकर मलयकेतु के पास चले गए। ये इन लोगों के विराग का कारण है !

राजा—आर्य ! जब आप इस प्रकार के इन विराग के कारणों को जानते थे, तो आर्य ने क्यों शीघ्र ही प्रतिकार नहीं किया ?

चाणक्य—वृषल ! प्रतिकार कर नहीं सके।

राजा—क्या असमर्थ होने से, अथवा कुछ प्रयोजन होने के कारण ?

चाणक्य—असमर्थ कैसे हो सकते हैं ? कुछ प्रयोजन ही था।

राजा—तो मैं प्रतिकार न करने का प्रयोजन अब सुना चाहता हूँ।

चाणक्य—वृषल ! सुनो और ध्यान दो।

राजा—दोनों ही बातें करूंगा, कहिए।

चाणक्य—संसार में विरक्त प्रजा के दो उपाय हैं—पहला अनुग्रह और दूसरा निग्रह। अनुग्रह यह है कि भद्रभट और पुरुषदत्त इन दोनों का जो अधिकार छीन लिया है, उन्हें फिर वह अधिकार सौंप दिया जाय। किन्तु व्यसनी होने के कारण उसके योग्य नहीं फिर भी यदि उन्हें अधिकार दे दिया जाय, तो संपूर्ण राज्य की जड़

हाथी और घोड़े नष्ट हो जायं। डिंगुरात और बलगुप्त इतने लोभी हैं कि यदि उन्हें संपूर्ण राज्य भी प्रदान कर दिया जाय, तो भी संतुष्ट न हों; इसलिए उन पर अनुग्रह कैसे किया जा सकता है? राजसेन और भागुरायण भी धन छिन जाने के भय से भागे हैं, उनके लिए भो कैसे अनुग्रह का अवकाश हो सकता है? और रोहिताक्ष तथा विजयवर्मा भी महा अभिमानी हैं, वे आपके बंधु-सम्मान को भी नहीं सह सकते,उन्हें किस प्रकार का अनुग्रह प्रसन्न कर सकेगा? इसलिए अनुग्रह तो किया नहीं जा सकता। निग्रह भी इसलिए नहीं किया जा सकता कि हमने अभी तो नंद-राज्य को प्राप्त किया है; यदि हम नंद के सहायक प्रधान कर्मचारियों को कठोर दंड देकर सताना आरंभ करें, तो नंद-कुल के प्रेमी प्रजा-जनों का विश्वास हम पर से सदा के लिए उठ जायगा। तो इस प्रकार हमारे अनुचरों को अनुग्रह पूर्वक अपनी ओर मिलाकर, राक्षस का उपदेश सुनने में लीन हुआ, महान् यवन-सेना से घिरा हुआ और पिता के वध से क्रुद्ध हुआ पर्वतक का पुत्र मलयकेतु हम पर आक्रमण किया ही चाहता है; इसलिये यह उद्योग का समय है उत्सव का नहीं। इसलिए जबकि हमें दुर्ग-संस्कार आरंभ करना चाहिए, तब चंद्रिकोत्सव से क्या प्रयोजन? इसीलिए मैंने उसका निषेध किया था।

राजा—आर्य! मुझे इस विषय में बहुत पूछना है।

चाणक्य—वृषल? निःशंक होकर पूछो, मुझे भी इस विषय में बहुत कहना है।

राजा—मैं यह पूछता हूँ।

चाणक्य—मैं भी यह कहता हूँ।

राजा—जो यह हमारे संपूर्ण क्लेशों का कारण मलयकेतु है, उसको क्यों आर्य ने भागते समय छोड़ दिया?

चाणक्य—वृषल मलयकेतु के भागते समय उपेक्षा न करने की अवस्था में दो ही उपाय थे—या तो उस पर अनुग्रह करते या उसे दंड देते। अनुग्रह करने की अवस्था में पहले प्रतिज्ञा किया हुआ आधा राज्य देना पड़ता, और दण्ड देने की दशा में 'पर्वतक को हमने मारा है' यह हम स्वयं अपनी कृतघ्नता प्रकट कर देते। और यदि हम वायदा किया हुआ आधा राज्य दे भी दें तो पर्वतक के वध का एक मात्र फल कृतघ्नता ही होवे; इसलिए मैंने भागते हुए मलयकेतु को नहीं पकड़ा।

राजा—इसका तो यह उत्तर हुआ। किंतु आर्य ने इसी नगर में रहते हुए राक्षस को छोड़ दिया, इस विषय में आर्य का क्या उत्तर है?

चाणक्य—राक्षस भी निज स्वामी का दृढ़ भक्त होने के कारण, और बहुत समय तक एक स्थान पर रहने के कारण उसके शील-स्वभाव से परिचित नंद-भक्त प्रजा का विश्वासपात्र बना हुआ है; बुद्धिमान और पुरुषार्थी है, उसके सहायक भी हैं और वह कोष-बल से भी युक्त है; ऐसी दशा में यदि वह यहीं—नगर में—रहे, तो बड़ी खलबली मचा दे। और यहाँ से अलग होकर चाहे वह बाहर गड़बड़ी भी पैदा कर दे तो भी सहज ही वश में किया जा सकेगा; इसलिए भागते हुए उसे छोड़ दिया।

राजा—तो जब वह यहीं रहता था, तभी क्यों न आर्य ने उसे वश में करने का कोई उपाय किया?

चाणक्य—वश में कैसे किया जा सकेगा? देखो मैंने अनेक उपाय करके, उसे हृदय में चुभी कील के समान, उखाड़ कर दूर पहुँचा दिया है। और मैं उसके दूर पहुँचा देने का कारण बता चुका हूँ।

राजा—आर्य! आक्रमण करके क्यों न पकड़ लिया?

चाणक्य—वृषल! वह राक्षस है, आक्रमण करके यदि उसे पकड़ने का यत्न किया जाता, तो या तो वह स्वयं अपने प्राणों की बलि

चढ़ा देता, अथवा तुम्हारी सेनाओं का संहार कर डालता। ऐसा होने पर दोनों ही तरह हानि थी। देखो—

आक्रांत होकर सैन्य से हो जाय वह भू-लीन ही;
उस विध पुरुष से हे वृषल! हो जायंगे हम हीन ही!
यदि मार दे वह सैन्य-नायक, दुःख कितना, सोच लो,
वन-गज-सदृश उसको उपायों से अतः वश में करो ॥२४॥

राजा—मैं आर्य की बातों में तो नहीं जीत सकता, किंतु अमात्य राक्षस ही सर्वथा प्रशंसनीय जान पड़ते हैं।

चाणक्य—'न कि आप' इतना छोड़ दिया। ऐसा न कहो। ऐ वृषल! उसने क्या किया?

राजा—यदि मालूम नहीं है, तो सुनो। वह महापुरुष—

रख चरण गरदन पर हमारी राजधानी में रहा,
जय-घोष में मम सैन्य-गण का अति विरोध किया अहा!
नय-चातुरी से विपुल अति संमोह में डाला हमें,
विश्वस्त जन में भी किया संदिग्ध-मन वाला हमें ॥२५॥

चाणक्य—(हंसकर) वृषल! यह काम राक्षस ने किया!

राजा—और क्या, यह काम अमात्य राक्षस ने किया।

चाणक्य—वृषल! मैंने तो जाना कि आपको नंद के समान राज्य-च्युत करके मलयकेतु को आपके तुल्य पृथ्वी भर का राजा बना दिया!

राजा—उपालम्भ न दीजिए। आर्य! भाग्य ने यह सब किया है, इसमें आर्य का क्या काम है?

चाणक्य—अरे डाह के पुतले!

अग्रांगुली से क्रोध में अति निज शिखा को खोल के,
रिपु-ध्वंस की भीषण प्रतिज्ञा के वचन स्फुट बोल के,
किस अन्य ने अति विभवशाली मान के पुतले तथा,
प्रत्यक्ष राक्षस के सभी वे नंद मारे, पशु यथा? ॥२६॥

और—

बांध चक्र गगन में उड़ते
लंबे निश्चल पर वाले,
गृद्ध्र-धूम से ढक रवि, दिखला
दिङ् मंडल जलधर वाले,
श्मशान-वासी जीवों को दे
नंद-शवों से सौख्य नितांत,
देखो, अब भी चरबी वाली
होती ये न चिताएं शांत ॥२७॥

राजा—यह और ही ने किया है।

चाणक्य—आ: ! किसने ?

राजा—नंद-कुल से महाद्वेषी दैव ने।

चाणक्य—दैव को मूर्ख लोग प्रमाण मानते हैं।

राजा—विद्वान् लोग भी घमंडी नहीं होते।

चाणक्य—(क्रोध पूर्वक) वृषल ! वृषल ! भृत्य के समान मुझ पर सवार हुआ चाहते हो।

आबद्ध भी फिर यह शिखा को खोलने कर बढ़ रहा;
(पृथ्वी पर पैर पटक कर)
फिर भी प्रतिज्ञारूढ़ होने को चरण यह चल रहा;
जो नंद-वंश-विनाश से क्रोधाग्नि शांत हुई अहा !
तू काल का मारा उसे फिर प्रज्ज्वलित है कर रहा ॥२८॥

राजा—(दुःखपूर्वक स्वगत) ऐं ! तो क्या सचमुच ही कुपित हो गए ? क्योंकि—

तनु भी—कोप-चपल पलकों से
विमल सलिल-कण झरने से,
अरुण नयन-किरणों से जलते,
धूम्रित भृकुटि उभरने से,

नृत्य-समय में रुद्र-क्रोध का
मानों खूब स्मरण करती,
हो अति कंपित किसी भांति भू
चरण-घात धारण करती ॥२६॥

चाणक्य—(बनावटी क्रोध को रोककर) वृषल ! वृषल ! उत्तर पर उत्तर मत दो। यदि राक्षस को हमसे अधिक श्रेष्ठ समझते हो, तो यह शस्त्र उसे सौंप दो। (शस्त्र को छोड़ कर और उठकर आकाश में टकटकी बांधकर स्वगत) राक्षस ! राक्षस ! तुम चाणक्य की बुद्धि की अवहेलना करना चाहते हो ! तुम्हारी बुद्धि की यही श्रेष्ठता है:—

'स्नेह-रहित चाणक्य हुआ है जिसमें, सुख से
जीतूंगा / वह मौर्य' हृदय' धर यह, दुख से
तुमने भेद-प्रयोग किया अब जो, वह सारा
धूर्त ! करेगा शीघ्र अमंगल सत्य तुम्हारा ॥३०॥

(चाणक्य का प्रस्थान)

राजा—कंचुकी ! प्रजा के लोगों से यह कह दो कि आज से चाणक्य को छोड़कर चंद्रगुप्त स्वयं ही राज्य-कार्य किया करेगा।

कंचुकी—(स्वगत) क्यों बिना किसी पद को पहले जोड़े केवल चाणक्य कहा है, न कि आर्य चाणक्य ! बुरा हुआ ! सचमुच ही पद-च्युत कर दिया। अथवा इस बात में महाराज का कोई अपराध नहीं।

सचिव-दोष ही से करें, निन्दनीय नृप-काम।
यन्तृ-दोष ही से सदा, कहलाता गज वाम ॥३१॥

राजा—आर्य ! क्या सोच रहे हो ?

कंचुकी—महाराज ! कुछ नहीं सोच रहा हूँ, किंतु मेरा यह निवेदन है कि महाराज अब महाराज होगए।

राजा—(स्वगत) जब संसार ने हमारी कलह को सत्य समझ लिया है, तब निज कार्य-सिद्धि के इच्छुक आर्य की इच्छा पूर्ण हो। (प्रकट) शोणोत्तरा ! इस सूखी कलह के कारण मेरे सिर में पीड़ा हो रही है, इसलिए शयन-मंदिर का मार्ग बताओ।

प्रतिहारी—आइए, आइए, महाराज !

राजा—(आसन से उठकर स्वगत)

आर्याज्ञा पाकर ही मैंने
किया आर्य-अपमान,
मम मति इससे अवनि-विवर में
करती अहो ! प्रयाण,
करते हैं न पुरुष जो सचमुच
गुरु-जन का सत्कार,
लज्जा क्यों न हृदय को उनके
देती अहो ! विदार ॥२२॥

(सब का प्रस्थान)

——※——
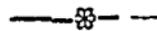
चौथा अङ्क

(पथिक के वेश में पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—ओ हो हो ! ओ हो हो !

कौन योजन सैकड़ों दुख से महा,
विश्व में गमनागमन करता अहा !
है बुरा जिसका समुल्लंघन अहो,
स्वामि-आज्ञा जो कहीं ऐसा न हो ॥ १ ॥

तो अमात्य राक्षस के ही घर में जाता हूँ । अरे ! यहाँ कोई द्वारपाल है ? स्वामी अमात्य राक्षस को सूचित कर दो कि—करभक बाल-गज के तुल्य गति से कार्य समाप्त करके पटने से आ गया है ।

(द्वारपाल का प्रवेश)

द्वारपाल—भद्र-पुरुष ! जोर से न बोलो, स्वामी अमात्य राक्षस के सिर में कार्य-चिन्ता के कारण जागने से पीड़ा हो रही है, उन्होंने अभी तक भी शय्या को नहीं छोड़ा है; इसलिए जरा थोड़ी देर ठहरो, जब तक कि मैं अवसर पाकर आपके आगमन से उन्हें सूचित करदूं ।

पुरुष—भद्रमुख ! जैसा चाहो, करो ।

(शय्या पर लेटे हुए चिन्ता युक्त राक्षस का आसन पर बैठे हुए शकटदास के साथ प्रवेश)

राक्षस—(स्वगत)

सोचता 'विधि-वश जगत' आरंभ में,
अति कुटिल कौटिल्य-मति को सोचता;
निपट निष्फल काय मम, अब क्या करूं ?
यह सोचता नित रात भर हूँ जागता ॥ २ ॥

और

और

आरंभ कर कुछ पूर्व फिर विस्तार मन धरता हुआ।
फिर बीज फल को गूढ़, दुर्गम स्पष्ट-सा करता हुआ,
अति सोचता, रचता वितत भी कार्य के निःशेष को।
है भोगता मुझ-सा मनुज वा नाट्य-कर्ता क्लेश को ॥३॥

क्या फिर भी वह दुरात्मा जड़-बुद्धि चाणक्य—

द्वारपाल—(समीप पहुंच कर) जय हो, जय हो।

राक्षस—ठगा जा सकता है ?

द्वारपाल—अमात्य !

राक्षस—(बांई आंख का फड़कना प्रकट करके स्वगत) 'दुरात्मा जड़बुद्धि चाणक्य की जय हो, ठगा जा सकता है अमात्य यद्यपि बांई आंख के फड़कने से यही प्राकरणिक अर्थ सूचित होता है, फिर भी उद्योग नहीं छोड़ना चाहिए। (प्रकट) भद्र ! तुम क्या कहना चाहते हो ?

द्वारपाल—मंत्री जी ! ये करभक पटने से आये हैं, मंत्री जी से मिलना चाहते हैं।

राक्षस—जाओ, बे रोक टोक लिवा लाओ।

द्वारपाल—जो आज्ञा।

(बाहर जाकर पुरुष के साथ पुनः प्रवेश)

द्वारपाल—भद्र पुरुष ! ये मन्त्री जो बैठे हैं, पास चले जाओ।

(द्वारपाल का प्रस्थान)

करभक—(राक्षस के पास जाकर) जय हो मन्त्री जी की।

राक्षस—(अभिनय पूर्वक देखकर) भद्र करभक ! स्वागत है, बैठो।

करभक—जो आज्ञा।

(भूमि पर बैठ जाता है)

राक्षस—(स्वगत) अनेक कार्य होने के कारण मुझे याद नहीं आ रहा कि मैंने इस दूत को किस कार्य के लिए भेजा था।

(चिन्ता का अभिनय करता है)

(बेंत हाथ में लिये दूसरे पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—हटो, सज्जनो ! हटो; दूर हो, भले आदमियो ! दूर हो। क्या नहीं देखते ?

पुरुषों में सुर-सम, अमर मंगल-कुल भरपूर।—
दर्शन भी इनका कठिन, निकट-प्राप्ति अति दूर॥ ४॥

(आकाश की ओर देखकर) सज्जनो ! क्या कहते हो—'यह क्यों हटाया जा रहा है ?' सज्जनो ! ये कुमार मलयकेतु, अमात्य राक्षस को सिर पीड़ा का समाचार सुनकर, उन्हें देखने के लिए यहीं पर आ रहे हैं। इसलिए हटाया जा रहा है।

(पुरुष का प्रस्थान)

(भागुरायण और कंचुकी के साथ मलयकेतु का प्रवेश)

मलयकेतु—(लम्बी सांस लेकर स्वगत) आज पिताजी को मरे, दस साल बीत गये। और व्यर्थ के पुरुषत्वाभिमानी हमने उनके निमित्त जलांजलि तक भी नहीं दी। अथवा मैं पहले यह प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि—

वक्ष-घात से वलय-रत्न है भिन्न, वसन से हीन हुई,
करतीं करुण-विलाप वेग से, अलकें रेणु-मलीन हुई,
माताओं का शोक-जनित वह, हाय! दशा का परिवर्तन-
रिपु-वंधुओं को सौंप, मुझे फिर गुरु-जन का करना तर्पण॥५॥

इसलिए इस विनय में अधिक क्या कहूँ ?—

घर कर या तो वीर-भाव में,
मचा समर, पितृ-पथ से जाऊं !
हटा स्व मातृ नयन-जल अथवा
रिपु-स्त्री-नयनों में पहुँचाऊं॥ ६॥

(प्रकट) कंचुकी ! मेरी ओर से हमारे साथी जितने भी राजा लोग हैं, उनसे कह दो कि—'मैं अकेला ही अमात्य राक्षस को अपने आक-

आकस्मिक आगमन से प्रसन्न किया चाहता हूँ, इसलिए आप लोग मेरे साथ आने का कष्ट न करें।

कंचुकी—जो कुंवर जी की आज्ञा। (घूमकर आकाश की ओर देखकर) अजी ! राजा लोगो कुंवर जी की आज्ञा है कि—मेरे साथ कोई न आए (देखकर हर्षपूर्वक) कुंवर जी ! कुंवर जी ! आपकी आज्ञा को सुनते ही ये सब राजा लोग लौट गए। देखिए, कुंवर जी !—

आकर्षण से खर-लगाम के, तिरछे-उभरे-स्कंध-सहित,
रोके अश्व अनेक नृपों ने, रचते-से नभ खुर-खंडित।
रुकने से नीरव-घंटा-युत, लौटे कोई, गज के संग,
देव ! न करते भूमिपाल तब, जलधि-सदृश, मर्यादा भंग ॥७॥

मलयकेतु—कंचुकी ! तुम भी सब लोगों के साथ लौट जाओ। केवल भागुरायण मेरे साथ आए।

कंचुकी—जो कुंवर की आज्ञा।

(सब अनुचरों के साथ प्रस्थान)

मलयकेतु—मित्र ! भागुरायण ! यहाँ आते समय मुझे भद्र भट आदि ने कहा कि—'हम राक्षस के कहने से सेवनीय कुमार की सेवा में नहीं रहते; किंतु हम, कुमार के सेनापति शिखरसेन के कहने से, नीच मंत्री के चंगुल में फंसे हुए चन्द्रगुप्त से विरक्त होकर, सुन्दर-गुण-सम्पन्न एवं सेवनीय कुमार की सेवा में जीवन व्यतीत करते हैं।' उनकी इस बात पर मैंने बहुत समय तक विचार किया, पर मैं इसका अभिप्राय न समझ सका।

भागुरायण—कुंवर जी ! इसका अर्थ अधिक कठिन नहीं है। देखो यदि कोई पुरुष प्रिय एवं हितकारी पुरुष के द्वारा वीर, उत्साही तथा आश्रय-योग्य राजा का आश्रय ग्रहण करता है, तो यह उचित ही है।

मलयकेतु—मित्र ! भागुरायण ! तो फिर अमात्य राक्षस तो हमारे अत्यन्त प्रिय एवं हितकारी हैं।

भागुरायण—कुंवर जी ! यह ठीक है; किंतु अमात्य राक्षस की शत्रुता चाणक्य के साथ है, चंद्रगुप्त के साथ नहीं; तो यदि कदाचित् चंद्रगुप्त महाघमंडी चाणक्य की बात को सहकर उसे मंत्री-पद से च्युत करदे, उस दशा में अमात्य राक्षस नन्द-कुल का भक्त होने के कारण चन्द्रगुप्त को नन्दवंशीय समझकर और मित्रों की प्राण-रक्षा का ख्याल करके चंद्रगुप्त के साथ सुलह कर ले; और चंद्रगुप्त भी उसे अपना कुल-मन्त्री समझकर संधि को मान ले; ऐसा होने पर कुमार, संभव है, हम पर भी भरोसा न करें। यह इन लोगों की बात का अभिप्राय है।

मलयकेतु—हो सकता है। मित्र भागुरायण ! अमात्य राक्षस के घर का मार्ग बताओ।

भागुरायण—इधर को, इधर को, कुंवर जी !

(दोनों चलते हैं)

भागुरायण—कुंवरजी ! यह अमात्य राक्षस का घर है, कुंवरजी भीतर जा सकते हैं।

मलयकेतु—यह मैं भीतर चलता हूँ।

(दोनों भीतर जाने का अभिनय करते हैं)

राक्षस—(स्वगत) आः ! याद आगया ! (प्रकट) भद्र पुरुष ! क्या तुम कुसुमपुर में वैतालिक स्तनकलश से मिले थे ?

करभक—मंत्रीजी ! क्यों नहीं ?

मलयकेतु—मित्र ! भागुरायण ! कुसुमपुर का वृत्तांत आरंभ हो रहा है। इसलिए पास नहीं जाते; ज़रा सुनें तो, क्योंकि—

मंत्र-भंग-भय से सचिव, कहते नृप से और।
बात-चीत में और वे, प्रकटित करते और ॥ ८ ॥

भागुरायण—जो कुंवरजी की आज्ञा।

राक्षस—भद्र पुरुष ! क्या वह काम पूरा हो गया ?

करभक—अमात्य की दया से पूरा हो गया।

मलयकेतु—मित्र ! भागुरायण ! वह कौन-सा काम ?

भागुरायण—कुंवरजी ! मंत्रीजी की बातें बड़ी जटिल होती हैं, उन्हे इतनी जल्दी नहीं समझा जा सकता । जरा सावधान होकर सुनो ।

राक्षस—भद्र पुरुष ! मैं विस्तार से सुना चाहता हूँ ।

करभक—सुनें मंत्री जी । मुझे मंत्री जी ने यह आज्ञा दी थी कि—'करभक ! तुम कुसुमपुर जाकर वैतालिक स्तनकलश से मेरी ओर से कहना कि दुष्ट चाणक्य जब कभी आज्ञा-भंग करे, तभी तुम उत्ते-जनात्मक स्तुति-गान से चन्द्रगुप्त की स्तुति करना ।'

राक्षस—उसके बाद ?

करभक—तब मैंने पाटलिपुत्र जाकर स्तनकलश से अमात्य का संदेश कह सुनाया ।

राक्षस—तब, फिर ?

करभक—इसी समय चन्द्रगुप्त ने नन्द-कुल के विनाश से दुखी-मन पुर-वासियों के लिए संतोषदायक चंद्रिकोत्सव की घोषणा करवा दी । और उसके चिरकाल तक होते रहने के कारण पुरवासी बड़े संतुष्ट हुए और उन्होंने उसका, अभिमत-बंधु-मिलाप के समान, सप्रेम अभिनन्दन किया ।

राक्षस—(आँखों में आंसू भरकर) हाय ! महाराज ! नंद !

होने पर भी चन्द्र के कुमुद-हर्ष, नृप-चन्द !
तुम बिन कैसी 'चंद्रिका' निखिल-लोक-आनंद ! ॥६॥

भद्र पुरुष ! उसके बाद !

करभक—मंत्रीजी ! फिर वह—संसार की आँखों को लुब्ध करने वाला—कौमुदी-महोत्सव नागरिक लोगों की इच्छा का कुछ भी खयाल न करके दुष्ट चाणक्य ने बन्द करवा दिया । इसी समय स्तनकलश ने उत्तेजनात्मक स्तुति-गान से चंद्रगुप्त की स्तुति करनी आरंभ कर दी ।

राक्षस—सो कैसी ?

करभक—('नरवर ! मानो अतिबल के निधि...' इत्यादि पूर्वोक्त पढ़ता है।)

राक्षस—(प्रसन्न होकर) वाह ! मित्र स्तनकलश ! वाह ! तुमने समय पर भेद-बीज बो दिया; वह अवश्य ही फल दिखाएगा। क्योंकि—

साधारण जन भी नहीं, सह सकता रस-भंग।
दिव्य-तेज-धारी सहे, कैसे भूप-पतंग ? ॥१०॥

मलयकेतु—यह ठीक है।

राक्षस—तब, फिर ?

करभक—तब चंद्रगुप्त ने आज्ञा-भंग के कारण अप्रसन्न होकर और अमात्य के गुणों की चिरकाल तक प्रशंसा करके चाणक्य को पदच्युत कर दिया।

मलयकेतु—मित्र ! भागुरायण ! अमात्य के गुणों की प्रशंसा करके चंद्रगुप्त ने राक्षस के प्रति भक्ति-भाव प्रकट कर दिया।

भागुरायण—कुंवर जी ! गुणों की प्रशंसा से वैसा नहीं, जैसा कि जड़बुद्धि चाणक्य के अपमान से।

राक्षस—भद्र पुरुष ! क्या यह केवल चंद्रिकोत्सव का निषेध ही चाणक्य के प्रति चंद्रगुप्त के क्रुद्ध होने का कारण है, अथवा कुछ और भी है ?

मलयकेतु—मित्र ! भागुरायण ! चंद्रगुप्त के दूसरे कोप-कारण का पता लगाने में इसे कौन-सा फल दीख पड़ता है ?

भागुरायण—कुंवर जी ! इसे यह फल दीख पड़ता है कि—महाबुद्धिशाली चाणक्य चंद्रगुप्त को क्यों निष्प्रयोजन क्रुद्ध करेगा ? और चंद्रगुप्त भी उसका कृतज्ञ है, वह क्यों ज़रा-सी बात पर उसके गौरव को नष्ट कर देगा ? इसलिए चाणक्य और चन्द्रगुप्त में किसी महान् कारण से यदि वैमनस्य उत्पन्न हो जाय, तो वह अमिट होगा।

करभक—मंत्री जी! चाणक्य के प्रति चंद्रगुप्त के क्रोध का कारण और भी है।

राक्षस—कौन-सा, कौन-सा?

करभक—क्योंकि पहले इसने कुमार मलयकेतु और अमात्य राक्षस की भागते समय उपेक्षा कर दी।

राक्षस—(प्रसन्न होकर) मित्र शकटदास! चंद्रगुप्त अब मेरे हाथ-तले का हो जायगा।

शकटदास—अब चंदनदास बंधन से छूट जायगा, तुम्हें तुम्हारा परिवार मिल जायगा, और जीवसिद्धि आदि दुःख दूर हो जायगा।

भागुरायण—(स्वगत) जीवसिद्धि का दुःख सचमुच मिट गया।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! 'चंद्रगुप्त मेरे हाथ तले का हो जायगा' यह कहने से इसका अभिप्राय क्या है?

भागुरायण—और क्या हो सकता है? यही कि चाणक्य से अलग हुए चंद्रगुप्त का नाश करने से यह कुछ भी कार्य सिद्ध हुआ नहीं देखता।

राक्षस—भद्र पुरुष! अधिकार छिन जाने के बाद वह जड़बुद्धि अब कहाँ है?

करभक—वहीं-पाटलिपुत्र में रहता है।

राक्षस—(दुःखपूर्वक) भद्र पुरुष! वहीं रहता है? न तपोवन गया और न फिर उसने प्रतिज्ञा की?

करभक—मंत्री जी! तपोवन जायगा—यह सुनते हैं।

राक्षस—(दुःखपूर्वक) शकटदास! यह बात नहीं जंचती; देखो-

सहा न जिसने, पृथिवी-वासव नृप से विहित, महान
अग्रासन से खींच गिराने का वह निज अपमान।
निज-निर्मित नरपाल मौर्य से, अब वह कैसे मानी,
यह भीषण अपमान सहेगा सर्व-कार्य-विज्ञानी? ॥११॥

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! चाणक्य के तपोवन जाने और पुनः प्रतिज्ञा करने में इसका कौन-सा स्वार्थ सिद्ध होता है?

भागुरायण—कुँवरजी ! इस बात का समझना अधिक कठिन नहीं, ज्यों-ज्यों दुष्ट चाणक्य और चंद्रगुप्त की आपस में बिगड़ती है, त्यों-त्यों इसका स्वार्थ सिद्ध होता है।

शकटदास—मंत्री जी ! बस, अधिक संकल्प-विकल्प न कीजिये; यह बात ठीक ही है; क्योंकि देखिए—

रक्खा जिसने शिर-मणि-शशि, द्युति-
संयुत नरपति-शीश चरण,
सह सकता है मौर्य कहां वह,
निज-जन-कृत आज्ञा लंघन ?
क्रोधी भी चाणक्य अहो ! वह,
अनुभव करके अतिशय क्लेश,
विधि-वश पूर्ण-प्रतिज्ञ न करता,
फिर फल-भीत प्रतिज्ञा-लेश ॥१२॥

राक्षस—मित्र ! शकटदास ! यह ठीक है; तो जाओ, करभक को आराम से ठहराओ।

शकटदास—जो मंत्री जी की आज्ञा।

(करभक के साथ प्रस्थान)

राक्षस—मैं भी कुमार से मिलना चाहता हूँ।

मलयकेतु—मैं स्वयं ही आर्य से मिलने आया हूँ।

राक्षस—(अभिनय पूर्वक देखकर) ऐं ! कुमार स्वयं आए हैं ! (आसन से उठकर) यह आसन है; कुमार बैठ सकते।

मलयकेतु—मैं बैठे जाता हूँ; आर्य भी विराजें।

(दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं)

मलयकेतु—आर्य ! सिर की पीड़ा कुछ कम पड़ी कि नहीं ?

राक्षस—जब तक कि कुमार को कुमार के स्थान में 'महाराज !' कहकर नहीं पुकारा जाता, तब तक सिर की पीड़ा कैसे कम पड़ सकती है ?

जड़मति जग-कार्यों में बना खूब अन्धा,
नहि क्षण भर का भी कार्य में शक्त होता ॥१४॥

मलयकेतु—(स्वगत) सौभाग्य से मैं मंत्री के आश्रित नहीं हूँ। (प्रकट) यद्यपि यह ठीक है, फिर भी बहुत से आक्रमण-कारणों के होने पर केवल मंत्री-संकट को ढूंढ़कर शत्रु पर आक्रमण करने वाले राजा को सर्वथा सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

राक्षस—कुंवर जी सब काम सर्वथा सिद्ध हुआ ही समझें। क्योंकि—

अति बलशाली तुम रण-उद्यत,
पुरजन नंद-स्नेह-निलीन,
पद-वंचित चाणक्य हुआ जब,
मौर्य बना वह नृपति नवीन,
स्वाधीन हुआ......

(आधा कह चुकने पर लज्जा का अभिनय करता हुआ)

रण-पथ का जब
देता हूँ केवल उपदेश,
सारे कार्य तुम्हारी अनुमति
पर हैं निर्भर आज नरेश ! ॥१५॥

मलयकेतु—'मंत्री जी ! यदि आप इस प्रकार शत्रु पर आक्रमण करने का समय देख रहे हैं, तो क्यों विलंब करते हैं ? देखिये—

मँद-जल वाही, ऊंचे काले गुंजित जिन पर मधुकर-माल,
अति विशाल दांतों से करते भग्न तीर, शोणित से लाल—
मम गजपति, उत्तुङ्ग-तीर, जल जिसका बहता वेग महान,
श्यामल-तीर, तरंगित निपतित-तट-युत शोण करेंगे पान ॥१६॥

और देखिये—

अति घन रव वाले, नीर की धार जैसे
निज मद जल वाले शीकरों को गिराते,

जलधर जल-वर्षी विंध्य को घेरते ज्यों,
मम गज नगरी को घेर लेंगे अहो ! त्यों,॥१७॥

(भागुरायण के साथ मलयकेतु का प्रस्थान)

राक्षस—कौन है यहां ?

(प्रियंवदक का प्रवेश)

प्रियंवदक—आज्ञा करें मंत्री जी।

राक्षस—प्रियंवदक ? देखो द्वार पर कौन ज्योतिषी खड़ा है ?

प्रियंवदक—जो मंत्री जी की आज्ञा। (बाहर जाकर क्षपणक को देखकर फिर भीतर आकर) मंत्री जी ! यह ज्योतिषी क्षपणक है।

राक्षस—(अपशकुन का भाव प्रकट करके स्वगत) क्यों, पहले क्षपणक के दर्शन ?

प्रियंवदक—इसका नाम जीव सिद्धि है।

राक्षस—(प्रकट) भद्र वेश में लिवा लाओ।

प्रियंवदक—जो मंत्री जी की आज्ञा।

(प्रस्थान)

(क्षपणक का प्रवेश)

क्षपणक—

मोह रोग के वैद्य उन अर्हतों की मान।
विरस प्रथम जो बाद में देते पथ्य-ज्ञान ॥ १८ ॥

(समीप जाकर) उपासक ! आपको धर्म-लाभ हो।

राक्षस—ज्योतिषी जी ! हमारी रण-यात्रा के लिए अनुकूल समय निश्चित कीजिए।

क्षपणक—(अभिनयपूर्वक सोचकर) उपासक ! मुहूर्त का निर्णय हो गया। मध्यान्होत्तर मंगल-क्रिया के अयोग्य पूर्णचन्द्र-युक्त सुहावनी पूर्णिमा तिथि है, और नक्षत्र भी दक्षिण-दिग्वर्ती है। और—

पूर्ण-बिंब शशि उदित जब, होता हो रवि अस्त
उदित-अस्त जब केतु, बुध लगन, गमन प्रशस्त ॥ १६ ॥

राक्षस—ज्योतिषी जी ! पहले तो तिथि ही शुद्ध नहीं है।

क्षपणक—उपासक !

एक गुनी तिथि, चौगुना होता उडु एकांत।
चौंसठ गुण वाली लगन, ज्योतिष का सिद्धांत॥ २० ॥

इसलिए—

शुभ-फल-प्रद होती लगन, तज दो ग्रह वह क्रूर
चंद्र-संग चलते हुए, मिले लाभ भरपूर॥ २१ ॥

राक्षस—ज्योतिषी जी ! आप और ज्योतिषियों के साथ विचार करलें !

क्षपणक—विचार कर लें आप; मैं तो घर जाऊंगा।

राक्षस—ज्योतिषी जी ! क्रुद्ध जो नहीं हो गए ?

क्षपणक—तुम से ज्योतिषी क्रुद्ध नहीं हुआ।

राक्षस—तो कौन हुआ है ?

क्षपणक—भगवान् कृतांत। क्योंकि तुम अपने पक्ष को छोड़कर दूसरे के पक्ष को ठीक समझते हो।

(प्रस्थान)

राक्षस—प्रियंवदक ! देखो क्या समय है ?

प्रियंवदक—जो मंत्री जी की आज्ञा। (बाहर जाकर और फिर आकर) भगवान् सूर्य अस्त हुआ चाहते हैं।

राक्षस—(आसन से उठकर और देखकर) ओह ! भगवान् सूर्य अस्त हुआ चाहते हैं !

वन अनुरागी-सूर्य उदय में, कुछ क्षण उपवन के तरु-जाल,
झटपट पत्र-च्छाया द्वारा संमुख चल मानों तत्काल,
अस्ताचल पर जब वह लटका, वे तो फिर हा ! लौट चले,
विभव नष्ट होने पर प्रायः तजते प्रभु को भृत्य भले ॥२२॥

(सब का प्रस्थान)

पांचवां अंक

(राक्षस की अंगुलि-मुद्रा से मुद्रित पत्र और आभूषणों की पेटी हाथ में लिए सिद्धार्थक का प्रवेश)

सिद्धार्थक—अ हा हा !

सींचे जिसको मति-जल निर्भर,
देश, काल के कलश निरन्तर,
विष्णुगुप्त की वह नीति-कला
हो जाएगी फल-भार-नता ॥१॥

मैंने आर्य चाणक्य-द्वारा लिखाया हुआ यह पत्र, जिस पर अमात्य राक्षस के नाम की मोहर लग चुकी है, ले लिया है। इस आभूषणों की पेटी पर भी उसी की मोहर लगी है ! अब मैं पटना जाने के लिए तैयार हूँ। अच्छा तो चलूं। (घूमकर और देखकर) क्यों, क्षपणक आ रहा है ? पहले ही इसका अशुभ दर्शन हो गया। तो सूर्य के दर्शन करके इस दोष को दूर करता हूँ।

(क्षपणक का प्रवेश)

क्षपणक—

निर्मल-मति अर्हंत को करता पुण्य प्रणाम।
लोकोत्तर निज काय से पाता जो शुभ धाम ॥१॥

सिद्धार्थकक—भदंत ! प्रणाम।

क्षपणक—उपासक ! तुम्हें धर्म-लाभ हो (सिद्धार्थक की ओर ध्यान से देखकर) उपासक ! ऐसा प्रतीत होता है कि तुमने यात्रा करने के लिये मन में पक्की ठान ली है।

सिद्धार्थक—यह भदंत ने कैसे जाना ?

क्षपणक—उपासक ! इसमें जानने की क्या बात है ? यह यात्रा के समय को बताने वाला मुहूर्त्त और हाथ का पत्र ही बता रहा है।

सिद्धार्थक—यह तो भदंत ने जानलिया कि मैं परदेश जा रहा हूँ, अच्छा भदंत ! यह तो बताओ—आज दिन कैसा है ?

क्षपणक—(हंसकर) उपासक ! मूंड मुड़ाकर तुम मुहूर्त्त पूछते हो ?

सिद्धार्थक—भदंत ! अभी क्या बिगड़ा है ? तो कहो, यदि मुहूर्त्त अपने अनुकूल हुआ तो जाऊंगा, नहीं तो लौट जाऊंगा।

क्षपणक—उपासकों को शुभ-अशुभ मुहूर्त्त से क्या प्रयोजन ? अब इस मलयकेतु के शिविर में बिना मुद्रा के कोई नहीं जा सकता।

सिद्धार्थक—भदंत ! कहो, ऐसा नियम कब से हो गया ?

क्षपणक—उपासक ! सुनो, पहले तो मलयकेतु के शिविर में सब लोग बे-रोक-टोक आ-जा सकते थे। किन्तु अब यहाँ से कुसुमपुर के समीप होने से किसी को भी बिना मुद्रा के आने-जाने की अनुमति नहीं मिलती। इसलिए यदि तुम्हारे पास भागुरायण की मोहर हो, तो निश्चिंत होकर जाओ; नहीं तो लौट कर मन मारकर बैठो; कभी पहरेदार हाथ-पैर बांधकर तुम्हें राज-दरबार में न ले जायं।

सिद्धार्थक—क्या भदंत को यह मालूम नहीं कि मैं अमात्य-राक्षस का समीपवर्ती अंतरंग मित्र सिद्धार्थक हूँ ? इसलिए मुद्रा-चिन्ह के बिना भी बाहर जाते हुए मुझे कौन रोकने का साहस कर सकता है ?

क्षपणक—उपासक ! चाहे तुम राक्षस के अंतरंग मित्र हो या पिशाच के; बिना मुद्रा-चिन्ह के तुम्हारे बाहर जाने का कोई उपाय नहीं है।

सिद्धार्थक—उपासक ! जाओ, तुम्हारा कार्य सिद्ध हो। मैं भी पटना जाने के लिए भागुरायण से मोहर लेने जाता हूँ।

(दोनों का प्रस्थान)

प्रवेशक

❀❀ ❀❀ ❀❀

(पुरुष के साथ भागुरायण का प्रवेश)

भागुरायण—(स्वगत) अहो ! आर्य चाणक्य की नीति कैसी विचित्र है। क्योंकि,

अनुमेय, आविर्भाव जिसका, कठिन जिसका ज्ञान है,
है पूर्ण, जिसका कार्यवश अत्यल्प होता भान है।
फल-हीन होती है कभी, फल-युत कभी होती तथा,
नय-निपुण जन की नीति विधि-सम चित्र अद्भुत सर्वथा॥३॥

(प्रकट) भद्र भासुरक ! कुमार मेरा दूर रहना पसंद नहीं करते। इसलिए इसी सभा-मंडप में आसन जमाओ।

पुरुष—यह रहा आसन। आर्य विराजें।

भागुरायण—(बैठकर) भद्र भासुरक ! जो कोई मुद्रा का अभिलाषी मिलने आए, उसे भेज देना।

पुरुष—जो आर्य की आज्ञा। (प्रस्थान)

भागुरायण—(स्वगत) दुःख है कि कुमार मलयकेतु को, जो कि हमसे इतना अधिक प्रेम करते हैं, हम धोखा दें ! अहो ! यह कितना कठिन कार्य है। अथवा—

वस छोड़कर कुल-लाज निज यश मान के भी ध्यान को,
रखकर क्षणिक धन-लाभ-लिप्सा बेच तनु धनवान को,
उचित-अनुचित मान्य जिसको सतत स्वामि-निदेश है,
परतंत्र जन भी क्या कभी करता विमर्श-विशेष है॥४॥

(प्रतिहारी के साथ मलयकेतु का प्रवेश)

मलयकेतु—(स्वगत) अहो, राक्षस के विषय में अनेक तर्क-वितर्क के उठने के कारण व्याकुल हुआ मेरा मन किसी निश्चय पर नहीं पहुँच पाता। क्योंकि—

क्या नंद-कुल-दृढ़-भक्त वह, चाणक्य का तज ध्यान ही;
नंदान्वयी उस मौर्य-नृप से संधि कर ले शीघ्र ही ?

स्थिर-भक्ति का धर ध्यान अथवा वचन निज पूरा करें,
यों घूमता मम हृदय चक्रारूढ़-सा चिर से अरे ॥४॥

(प्रकट) विजया ! कहाँ हैं भागुरायण ?

प्रतिहारी—कुंवर जी ! ये सामने बैठे शिविर से बाहर जाने वाले लोगों को आने-जाने का आज्ञा-पत्र दे रहे हैं।

मलयकेतु—विजय ! तुम जरा रुक जाओ, जब तक कि पीठ मोड़कर बैठे हुए इनकी आंखों पर मैं हाथ रखता हूँ।

प्रतिहारी—जो कुंवरजी की आज्ञा।

(भासुरक का प्रवेश)

भासुरक—आर्य ! यह क्षपणक आज्ञा-पत्र के निमित्त आप से मिलना चाहता है।

भागरायण—भेज दो।

भासुरक—जो आर्य की आज्ञा।

(प्रस्थान)

(क्षपणक का प्रवेश)

क्षपणक—उपासकों को धर्म-लाभ हो !

भागुरायण—(अभिनयपूर्वक देखकर स्वगत) अरे ! राक्षस का मित्र जीवसिद्धि है ? (प्रकट) भदंत ! क्या सचमुच तुम राक्षस के ही किसी काम के लिए तो नहीं जा रहे ?

क्षपणक—(दोनों कान ढककर) शिव ! शिव ! उपासक ! मैं तो वहीं जाऊंगा, जहाँ राक्षस अथवा पिशाच का नाम भी नहीं सुना जाता।

भागुरायण—भदंत ! मित्र के साथ बड़े जोर का प्रेम-भंग हो गया, तो राक्षस ने आपका क्या बिगाड़ डाला ?

क्षपणक—उपासक ! राक्षस ने मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ा; मैं अभागा स्वयं ही अपने कार्यों पर लज्जित हूं।

भागुरायण—भदंत ! तुम मेरे कौतूहल को बढ़ा रहे हो।

मलयकेतु—(स्वगत) और मेरे भी।

भागुरायण—मैं सुनना चाहता हूँ ।

मलयकेतु—(स्वगत) मैं भी ।

क्षपणक—उपासक ! यह सुनने योग्य नहीं है; इसे सुनकर क्या करोगे ?

भागुरायण—भदंत ! यदि कोई गुप्त बात है, तो रहने दो ।

क्षपणक—नहीं उपासक ! गुप्त बात नहीं है ।

भागुरायण—तो कहिए !

क्षपणक—उपासक ! ऐसी तो नहीं, तो भी बहुत कठोर है; मैं न कहूँगा ।

भागुरायण—भदंत!तो मैं भी तुम्हें मुद्रांकित आज्ञा-पत्र न दूंगा ।

क्षपणक—(स्वगत) जब यह इतना उत्सुक है, तो कह देना चाहिए । (प्रकट) क्या करूं ? लाचार हूँ । अभी निवेदन करता हूँ । सुनें आप । मैं अभागा जब पहले पाटलिपुत्र में रहता था, तब मेरी राक्षस के साथ मित्रता हो गई । उस समय राक्षस ने गुप्तरूप से विष-कन्या का प्रयोग करके देव पर्वतेश्वर को मरवा डाला ।

मलयकेतु—(आँखों में आँसू भरकर स्वगत) क्यों, राक्षस ने पिताजी को मरवाया है न कि चाणक्य ने !

भागुरायण—भदंत ! उसके अनन्तर क्या हुआ ?

क्षपणक—उसके बाद नीच चाणक्य ने मुझे राक्षस का मित्र समझ कर अनादरपूर्वक नगर से निकलवा दिया । अब भी महापापी राक्षस कुछ उस प्रकार का कार्य कर रहा है, जिससे मैं संसार से ही बिदा कर दिया जाऊंगा ।

भागुरायण—भदंत ! हमने तो यह सुना है कि—नीच चाणक्य ने आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा कर, वह न देकर यह दुष्कर्म किया है, न कि राक्षस ने ।

क्षपणक—(कानों पर हाथ रखकर) शिव ! शिव ! चाणक्य तो विषकन्या का नाम तक भी नहीं जानता । उसी दुष्ट-बुद्धि राक्षस ने यह पाप-कर्म किया है ।

भागुरायण—भदंत ! यह बड़े दुःख की बात है। लो, यह मुद्रांकित आज्ञा-पत्र देता हूँ। आओ, कुंवर जी को भी यह समाचार सुना दें।

मलयकेतु—(आगे आकर)

रिपु-विषयक अति कर्ण-कटु सुने वचन हैं आप।
दुगुना-सा जिससे सखे ! बढ़ा जनक-वध-ताप ॥ ६ ॥

क्षपणक—(स्वगत) अच्छा हुआ, दुष्ट मलयकेतु ने यह बात सुन ली। मेरा काम पूरा हुआ।

मलयकेतु—(आकाश की ओर टकटकी बाँधकर मानो प्रत्यक्ष दीख पड़ रहा हो) राक्षस ! क्या यह उचित है ?

'तुम मित्र मेरे' सोचकर यह चित्त में निश्चित हो,
विश्वास कर तुम पर सभी निज काम छोड़े थे अहो !
वह तात मारा, बंधुओं की अश्रु-धारा वह चली,
बस ठीक 'राक्षस' नाम की पदवी मिली तुमको भली ॥७॥

भागुरायण—(स्वगत) आर्य चाणक्य की आज्ञा है कि—राक्षस के प्राणों की रक्षा की जाय। ऐसा ही होना चाहिए। (प्रकट) कुंवर जी ! अधिक क्रोध न कीजिए। आप आसन को अलंकृत करें। मैं कुछ निवेदन करना चाहता हूँ।

मलयकेतु—(बैठकर) मित्र ! क्या कहना चाहते हो !

भागुरायण— कुंवर जी ! अर्थशास्त्र के अनुगामी प्रयोजन के अनुसार ही शत्रु-मित्र तथा उदासीन की व्यवस्था किया करते हैं, न कि साधारण लोगों के समान स्वेच्छानुसार। क्योंकि राक्षस उस समय सर्वार्थसिद्धि को राजा बनाना चाहता था; इसलिए उसके इस कार्य में चंद्रगुप्त से भी अधिक बलवान होने के कारण प्रातःस्मरणीय देव पर्वतेश्वर ही विघ्न रूप महान शत्रु थे और उसी समय राक्षस ने यह काम किया। इसलिए इस विषय में मुझे उसका अधिक दोष नहीं प्रतीत होता। देखिए, कुंवरजी !—

मित्र शत्रु रचती स्वकार्य से,
शत्रु मित्र रचती तथा यहां-
नीति बात पहली भुला रही,
भूलता नर यथाऽन्य-जन्म में ॥ ८ ॥

इसलिए इस विषय में राक्षस उपालंभ का पात्र नहीं है। और नंद-राज्य की प्राप्ति तक उस पर अनुग्रह करना चाहिए। उसके बाद कुंवर जी उसे रखें या निकाल दें।

मलयकेतु—यही सही। मित्र! तुमने ठीक सोचा। अमात्य के वध से जनता भड़क सकती है; और इस प्रकार विजय में संदेह उत्पन्न हो सकता है।

(पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—जय हो कुंवरजी की। यह आर्य के शिविर का प्रधान द्वारपाल दीर्घचक्षु सूचित करता है कि—बिना मोहर का पत्र हाथ में लेकर शिविर से निकलते हुए इस आदमी को हमने पकड़ा है; इसलिए आर्य इसे देखलें।

भागुरायण—भद्र! उसे लिवा लाओ।

पुरुष—जो आर्य की आज्ञा।

(प्रस्थान)

(पुरुष के साथ बन्धे हुए सिद्धार्थक का प्रवेश)

सिद्धार्थक—(स्वगत)

दोप-विमुख गुण-तुष्ट जो रहती है अविराम।
स्वामी-भक्ति को मैं करूं जननी-तुल्य प्रणाम ॥ ९ ॥

पुरुष—(समीप जाकर) आर्य! यह रहा वह आदमी।

भागुरायण—(अभिनयपूर्वक देखकर) भद्र! यह कोई पथिक है या यहीं किसी का कोई सेवक है?

सिद्धार्थक—आर्य मैं अमात्य राक्षस का समीपवर्ती सेवक हूँ।

भागुरायण—भले आदमी ! फिर किसलिए बिना आज्ञा पत्र लिए शिविर से बाहर जाते हो ?

सिद्धार्थक—आर्य ! अधिक कार्य-वश मैं हूँ ।

भागुरायण—कौन-सा वह विशेष कार्य है, जिससे कि तुम राजा की आज्ञा को भंग करते हो ?

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! पत्र लाओ ।

सिद्धार्थक—(भागुरायण को पत्र देता है)

भागुरायण—(सिद्धार्थक के हाथ से पत्र लेकर मोहर देखकर) कुंवरजी ! यह पत्र है; यह राक्षस के नाम की मोहर है ।

मलयकेतु—जिससे कि मोहर न टूटे इस प्रकार खोलकर दिखाओ ।

भागुरायण—(बिना मुद्रा-भंग के पत्र खोलकर दिखाता है)

मलयकेतु—(लेकर बांचता है) "स्वस्ति, यथास्थान कहीं से, कोई, कुछ, किसी पुरुष को सूचित करता है कि-हमारे शत्रु का अनादर करके सत्यवादी ने अपनी अपूर्व सचाई को प्रकट कर दिया । अब आप पूर्व-प्रतिज्ञात संधि के उपहार-स्वरूप वस्तु को प्रदान करके, हमारे पहले संधि किए हुए मित्रों का उत्साह बढ़ा, सत्य-प्रतिज्ञ बनकर, उन्हें प्रसन्न कीजिए । इस प्रकार अपनाए जाने पर, निश्चय ही, ये लोग, अपने आश्रय के छूट जाने पर, उपकारी आपकी सेवा करेंगे । यद्यपि सच्चे पुरुष कभी नहीं भूलते, तो भी हम आपको स्मरण कराते हैं इन लोगों में कुछ शत्रु के धन और हाथियों को पाकर वैभवशाली होगए हैं कुछ जागीरें प्राप्त करके । हमारे पास सत्यवादी आपने जो तीन अलंकार भेजे थे, वे हमें मिल गए । हमने भी पत्रोत्तर के रूप में कुछ-भेजा है, उसे स्वीकार कीजिए; और मौखिक संदेश अत्यंत विश्वास-पात्र सिद्धार्थक से सुन लीजिए । इति ।"

मलयकेतु—भागुरायण ! यह कैसा पत्र है ?

भागुरायण—भद्र सिद्धार्थक ! यह किसका पत्र है ?

सिद्धार्थक—आर्य ! मुझे पता नहीं ।

भागुरायण—अरे धूर्त ! पत्र ले जा रहा है, और यह तुझे पता नहीं कि यह किसका है ? अच्छा, सब कुछ रहने दो; यह बताओ—मौखिक संदेश तुमसे कौन सुनेगा ?

सिद्धार्थक—(भय का अभिनय करता हुआ) आप लोग ।

भागुरायण—क्या हम लोग ?

सिद्धार्थक—आप लोगों ने मुझे पकड़ लिया; इसलिए मुझे कुछ पता नहीं, मैं क्या कह रहा हूँ ।

भागुरायण—(क्रोध में आकर) तू अभी जान जायगा । भद्र भासुरक ! बाहर ले जाकर इसे तब तक खूब पीटो जब तक कि यह सारी बात न बता दे ।

भासुरक—जो आर्य की आज्ञा ।

(सिद्धार्थक के साथ प्रस्थान)

(भासुरक का पुनः प्रवेश)

भासुरक—आर्य ! पिटते-पिटते उसकी बगल में से यह राक्षस नाम की मोहरवाली आभूषणों की पेटी गिर पड़ी ।

भागुरायण—(देखकर) कुंवरजी ! इस पर भी राक्षस की मोहर है—

मलयकेतु—यही पत्र का उत्तर होगा । इन्हें भी बिना मोहर टूटे खोलकर दिखाओ ।

भागुरायण—(बिना मुद्रा-भंग के खोलकर दिखाता है)

मलयकेतु—(देखकर) अरे ! यह तो वही अलंकार है, जो मैंने अपने शरीर से उतार कर राक्षस के लिए भेजा था । निश्चय यह पत्र चंद्रगुप्त के लिए है ।

भागुरायण—कुंवरजी ! संदेह अभी दूर हुआ जाता है । भद्र ! उसे फिर पीटो ।

पुरुष—जो आर्य की आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आकर) आर्य ! पिटने पर यह कहता है कि कुंवरजी को स्वयं ही बताऊंगा।

मलयकेतु—अच्छा लिवा लाओ ।

पुरुष—जो आर्य की आज्ञा।

(बाहर जाकर सिद्धार्थक के साथ प्रवेश)

सिद्धार्थक—(चरणों में गिरकर) कुंवरजी मुझे अभय-दान की कृपा करें।

मलयकेतु—भद्र ! भद्र ! शरणागत के लिए सदा अभय ही होता है, इसलिए जो ठीक-ठीक है, कहो।

सिद्धार्थक—सुनें कुंवरजी। मुझे अमात्य राक्षस ने यह पत्र देकर चंद्रगुप्त के पास भेजा है।

मलयकेतु—भद्र ! अब मैं मौखिक संदेश सुनना चाहता हूं ।

सिद्धार्थक—कुंवर जी ! मुझे अमात्य राक्षस ने यह संदेश दिया है कि-"ये पांच राजा हैं, जो मेरे घनिष्ट मित्र हैं और जिनके साथ आपकी पहले ही संधि हो चुकी है। एक—कुलूत देश के राजा चित्रवर्मा, दूसरे—मलय देश के अधिपति सिंहनाद, तीसरे—काश्मीर-नरेश पुष्कराक्ष चौथे—सिंधु देश के राजा सिंधुसेन और पांचवें—पारसीक-नरेश मेघाक्ष। इनमें से ही पहले तीन राजा मलयकेतु के राज्य को चाहते हैं और शेष दो कोष तथा हस्ति-बल को । इसलिए जिस प्रकार महाराज ने चाणक्य को पृथक् करके मुझे संतुष्ट किया, उसी प्रकार इन लोगों का भी पूर्वोक्त कार्य पूरा करना चाहिए।" यह इतना मौखिक संदेश है।

मलयकेतु—(स्वगत) क्यों, चित्रवर्मा आदि भी मेरे विरुद्ध हैं ! इसीलिए राक्षस के साथ इतनी प्रगाढ़ मित्रता है ! (प्रकट) विजया ! मैं अमात्य राक्षस से मिलना चाहता हूँ।

प्रतिहारी—जो कुंवरजी की आज्ञा।

(प्रस्थान)

(अपने घर में आसन पर विराजमान स-चिंत राक्षस का पुरुष के साथ प्रवेश)

राक्षस-(स्वगत) क्योंकि चंद्रगुप्त की सेना के पुरुष हमारी सेना में वहुत भर गए हैं, इसलिए मेरा मन सदा शंकित रहता है। क्योंकि—

जो साध्य में निश्चित तथा अन्वय सहित-स्थित पक्ष में
साधन वही है सिद्धिकारी, जो न लीन विपक्ष में;
जो तुल्य दोनों में स्वयं ही साध्य, पक्ष-विरुद्ध है,
स्वीकार कर होता उसे नृप वादि-तुल्य निरुद्ध है॥१०॥

अथवा जिनकी उदासीनता का कारण हमने पहले ही जान लिया था और जो हमारे भेदों से पहले ही परिचित थे, वे ही लोग हमारे साथ आ मिले हैं; इसलिए मुझे तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं है। (प्रकट) प्रियंवदक ! हमारी ओर से कुंवरजी के साथी राजाओं से कह दो कि—अब प्रतिदिन कुसुम पुर समीप आता जा रहा है, इसलिए रण-यात्रा के समय आप सब लोग पृथक् पृथक् विभाग बनाकर आगे वढ़ें। कैसे ?

व्यूह-विरच खस-मगध-सैन्य-गण
रण में आगे करें प्रयाण;
यवनाधिप-गांधार-सैन्य भी
करें मध्य में यत्न महान;
चेदि-हूण-सहित शक-नृपति-गण
जावें पीछे शौर्य-निधान,
चित्रवर्म-आदिक सब राजा
बनें कुंवर के रण-परिधान ॥११॥

प्रियंवदक—जो मंत्री जी की आज्ञा।

(प्रस्थान)

राक्षस—भद्र ! यह कौन-सा रहस्य है, मुझे सचमुच तुम्हारी बात समझ में नहीं आ रही।

सिद्धार्थक—मैं बताता हूँ, पिटते-पिटते मैंने,...

(आधी बात कह चुकने पर भय से मुँह नीचा कर लेता है)

मलयकेतु—भागुरायण ! स्वामी के आगे भय और लज्जा के कारण यह कुछ न कहेगा। इसलिए तुम स्वयं ही इनसे कह दो।

भागुरायण—जो कुँवरजी की आज्ञा। मंत्रीजी ! यह कहता है कि—'मुझे अमात्य राक्षस ने पत्र और मौखिक संदेश देकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा है।'

राक्षस—भद्र सिद्धार्थक ! क्या यह ठीक है ?

सिद्धार्थक—(लज्जा का अभिनय करता हुआ) जब मुझ पर बहुत मार पड़ी, तब मैंने ऐसा कह दिया।

राक्षस—कुँवरजी ! यह झूठ है। पिटने पर कौन क्या नहीं-कह सकता ?

मलयकेतु—भागुरायण ! पत्र दिखाओ; और मौखिक सन्देश यह इनका भृत्य स्वयं कहेगा।

भागुरायण—(पत्र को देखता हुआ)

('स्वस्ति, यथास्थान कहीं से कोई कुछ किसी को...' इत्यादि पढ़ता है)

राक्षस—कुँवर जी ! यह सब शत्रु का कार्य है।

मलयकेतु—पत्रोत्तर के रूप में जब आर्य ने यह अलंकार भेजा है, तब यह कैसे शत्रु का कार्य हो सकता है ? (आभूषण दिखलाता है।)

राक्षस—(आभूषण की ओर ध्यान से देखकर) कुँवरजी ! यह मैंने नहीं भेजा; यह कुंवरजी ने मुझे दिया था और मैंने प्रसन्न होकर सिद्धार्थक को दे दिया।

भागुरायण—अजी ! मंत्रीजी ऐसे विशिष्ट अलङ्कार का, जिसे कि स्वयं कुंवर जी ने अपने शरीर से उतारकर दिया हो, क्या यही दान-पात्र है ?

मलयकेतु—और मौखिक सन्देश भी हमारे अत्यंत विश्वास-भाजन सिद्धार्थक से सुन लीजिए—यह आर्य ने लिखा है।

राक्षस—कैसा मौखिक सन्देश ? किसका पत्र ? यह पत्र ही हमारा नहीं।

मलयकेतु—यह फिर किसकी मोहर है ?

राक्षस—धूर्त लोग बनावटी मोहर भी बना सकते हैं।

भागुरायण—कुंवरजी ! मन्त्रीजी ठीक कहते हैं। सिद्धार्थक ! यह पत्र किसने लिखा है ?

सिद्धार्थक—(राक्षस के मुँह की ओर देखकर चुपचाप मुँह नीचा करके खड़ा रहता है।)

भागुरायण—अपना खून मत करो, बोलो।

सिद्धार्थक—आर्य ! शकटदास ने।

राक्षस—कुंवर जी ! यदि शकटदास ने लिखा है, तो मैंने ही लिखा है।

मलयकेतु—विजया ! मैं शकटदास से मिलना चाहता हूँ।

प्रतिहारी—जो कुंवरजी की आज्ञा।

भागुरायण—(स्वगत) आर्य चाणक्य के गुप्तचर अनिश्चित बात कभी न कहेंगे। अथवा शकटदास आकर कदाचित 'यह वही पत्र है, यों पहचान कर पूर्व वृत्तांत प्रकट कर दे। ऐसा होने पर सम्भव है, मलयकेतु मन में संदेह उत्पन्न होजाने के कारण इस प्रयोग के विषय में बहक जाय। (प्रकट) कुंवरजी ! शकटदास कभी भी अमात्य राक्षस के संमुख यह स्वीकार नहीं करेगा कि—यह पत्र मैंने लिखा है। इस लिए इसके दूसरे लिखे लेख को ले आओ। क्योंकि अक्षरों की समता ही इस सारी बात का निर्णय करेगी।

मलयकेतु—विजया ! ऐसा ही करो।

भागुरायण—कुंवरजी ! यह मोहर भी ले आए।

मलयकेतु—दोनों ही वस्तु ले आओ।

प्रतिहारी—जो कुंवरजी की आज्ञा। (बाहर जाकर और फिर आकर) कुंवरजी ! यह वह शकटदास का अपने हाथ का पत्र और मोहर है।

मलयकेतु—(लेख और मुद्रा की ओर अभिनयपूर्वक देखकर) आर्य ! अक्षर तो मिलते हैं।

राक्षस—(स्वगत) अक्षर मिलते हैं; किंतु शकटदास हमारा मित्र है, इसलिए नहीं भी मिलते ! तो क्या शकटदास ने लिखा है ? अथवा

अविचल यश को तज किया चंचल धन का मान !
भूल नृपति की भक्ति या सुत दायिता का ध्यान ॥१४॥

अथवा इसमें संदेह की क्या बात है ?—

मुद्रा है कर-वर्त्तिनी शकट की, सिद्धार्थ भी मित्र है,
देखो जो उसके स्व-लेख सम है, यह नीति का पत्र है;
प्राणार्थी प्रभु-भक्ति-हीन उसने, निश्चय छली शत्रु से,
चेष्टा, भेद-प्रवीण, आज मिलके, की है बड़ी ही बुरी ॥१५॥

मलयकेतु—आर्य ! 'जो तीन अलंकार श्रीमान् ने भेजे हैं, वे मिल गए' यह आर्य ने लिखा है; क्या उन्हीं में से यह एक है ? (ध्यान से देखकर स्वगत) क्यों यह तो पिताजी का धारण किया हुआ आभूषण है ! (प्रकट) आर्य ! यह अलंकार आपको कहाँ से मिला ?

राक्षस—जौहरी से मोल लिया था।

मलयकेतु—विजया ! तुम इस आभूषण को पहचानती हो ?

प्रतिहारी—(गौर से देखकर आँखों में आँसू भरकर) कुंवरजी ! क्यों न पहचानूंगी ? इसे सचमुच प्रातः स्मरणीय महाराज पर्वतेश्वर पहना करते थे।

मलयकेतु—(आँखों में आंसू भरकर) हाय ! पिता जी !—

कुल-विभूषण ! भूषण ये वही,
पहनते जिनको तुम नित्य ही,

तुम सजे जिनसे, मुख-चंद्र से,
शरद रात्रि यथा उडु-चंद्र से ॥१६॥

राक्षस—(स्वगत) क्यों, पर्वतेश्वर ने इन्हें पहले पहना है—यह कहा इसने ? (प्रकट) यह स्पष्ट है कि ये आभूषण भी चाणक्य की प्रेरणा से ही उस बनिए ने हमें बेचे थे।

मलयकेतु—आर्य ! पिता जी द्वारा धारण किए हुए और खास कर चंद्रगुप्त के हाथ में पहुँचे हुए विशिष्ट आभूषण बनियों से मोल लिए हों, यह बात संगत सी नहीं जान पड़ती। अथवा यह ठीक ही है—

मौर्य वणिक् ने था किया अधिक लाभ का काम।
क्रूर आपने है मुझे बेचा इनके दाम ॥१७॥

राक्षस—(स्वगत) अहो ! यह शत्रु की कूटनीति पूर्णरूप से सफल हो गई ! क्योंकि—

'मेरा लेख नहीं' न मैं कह सकूं, मुद्रा लगी जो अहा !
मैत्री भंग हुई अहो ! शकट से, श्रद्धा किसे हो यहां !
मानेगा यह कौन 'मौर्य नृप ने बेचे विभूषण' तथा ?
अच्छा है न अयुक्त उत्तर अतः स्वीकार ही है भला ॥१८॥

मलयकेतु—मैं आर्य से यह पूछता हूँ।

राक्षस—(आंखों में आंसू भरकर) कुंवरजी ! जो आर्य है, उससे पूछिए; हम अब आर्य नहीं रहे।

मलयकेतु—

स्वामी-पुत्र वह मौर्य तुम्हारा, मित्र पुत्र तव मैं हूँ अनुचर,
धन वह देगा तुम्हें मुझे तुम देते हो राशि निरन्तर;
मान-सहित मंत्री बनकर भी दास मौर्य के, मेरे स्वामी,
छली करे जो तुम्हें, कौन से अधिक स्वार्थ के हो तुम कामी
॥१६॥

राक्षस—कुंवरजी ! अयुक्त बात कहकर आप ही ने मेरे लिए निर्णय दे दिया। क्योंकि—

"'स्वामी पुत्र वह मौर्य तुम्हारा...' इत्यादि को युष्मद् अस्मद् का परिवर्तन करके पढ़ता है।)

मलयकेतु—(पत्र और आभूषण की पेटी की ओर निर्देश करके) तो यह क्या है ?

राक्षस—(आंखों में आंसू भरकर) यह सब भाग्य का खेल है। क्योंकि—

सज्जन, कृतज्ञ तथा मनस्वी स्नेह से जिनके यहां,
हम दास होकर भी बने थे पुत्र-सम प्यारे महा,
वे भूप लोक चरित्र-विद् जिस नीच ने मारे अहो !
उस यत्न-विजयी क्रूर विधि के कार्य से सारे अहो ! ॥२०॥

मलयकेतु—(क्रोधपूर्वक) क्यों, अब भी छिपाते हो कि यह खेल भाग्य का है हमारा नहीं ? अनार्य !—

कन्या प्राण-विनाशिनी विषमयी तुमने बना के अहा !
विश्वासी मम तात पूर्व छल से मारा अहो ! है यहां;
मंत्री हो अब चंद्रगुप्त रिपु का कैसा बड़ा है बना !
जो आरंभ किया हमें पलल-सा हे क्रूर ! हा ! बेचना ॥२१॥

राक्षस—(स्वगत) यह और घाव पर घाव हो गया ! (दोनों कान ढक कर प्रकट) शिव ! शिव ! मैंने कदापि विष-कन्या का प्रयोग नहीं किया। मैं पर्वतेश्वर की ओर से निरपराध हूँ।

मलयकेतु—फिर किसने पिता जी का वध किया है ?

राक्षस—इस विषय में भाग्य से पूछना चाहिए !

---

१ स्वामि-पुत्र वह मौर्य हमारा, मित्र पुत्र तुम हो अनुचर,
धन वह देगा मुझे, तुम्हें मैं देता हूँ धन राशि निरंतर,
मान-सहित मंत्री बन कर भी दास मौर्य का, तेरा स्वामी,
छली करे जो मुझे, कौन से अधिक स्वार्थ का हूँ मैं कामी ?'

मलयकेतु—(आवेश में आकर) इस विषय में भाग्य से पूछना चाहिए ?—जीवसिद्धि क्षपणक से नहीं ?

राक्षस—(स्वगत) क्यों, जीवसिद्धि चाणक्य का गुप्तचर है दुख है, मेरे हृदय पर भी शत्रुओं ने अधिकार कर लिया !

मलयकेतु—(क्रोधपूर्वक) भासुरक ! सेनापति शिखरसेन को आज्ञा दे दो कि—जो ये पांच राजा, जिनके नाम ये हैं—कुलूताधिप चित्रवर्मा, मलय-नृपति सिंहनाद, काश्मीर-नरेश पुष्कराक्ष, सिंधुराज सुषेण और पारसीकाधिपति मेघाक्ष ये लोग राक्षस के साथ मैत्री गांठ कर और हमें मारकर चंद्रगुप्त की सेवा में जाना चाहते हैं। इनमें पहले तीन मेरे राज्य को चाहते हैं; उन्हें एक गहरे गढ़े में डालकर ऊपर से रेत भर दो। और अन्य दो मेरे हस्ति-बल को चाहते हैं; उन्हें हाथी द्वारा मरवा डाला जाय।

पुरुष—जो कुंवर जी की आज्ञा

(प्रस्थान)

मलयकेतु—(क्रोधपूर्वक) राक्षस ! राक्षस ! मैं विश्वासघाती राक्षस नहीं हूँ, मैं सचमुच मलयकेतु हूँ। इसलिए जाओ, खूब जी खोल कर चंद्रगुप्त की सेवा करो।

विष्णुगुप्त औ मौर्य के यदि तुम आओ संग।
त्रिवर्ग का दुर्नीति ज्यों कर सकता मैं भंग॥ २२॥

भागुरायण—कुंवर जी ! विलंब न कीजिए। शीघ्र ही कुसुमपुर को घेरने के लिए अपनी सेनाओं को भेजिये।

गौड़-स्त्रियों के लोध्र-गंध-युत मृदु कपोल कलुषित करते
अलि-कुल-सम-रुचि कुटिल अलक के कालेपन को भी हरते
रज-कण, सेना-अश्वखुरों से चूर्णित हो जो ऊर्ध्व उड़े,
गज-मद-जल से लुप्त-मूल हो, शत्रु-शीश पर आज पड़े॥२३॥

(सेवकों के साथ मलयकेतु का प्रस्थान)

राक्षस—(घबराहट के साथ) हाय ! बड़ा कष्ट है ! वे भी बेचारे चित्रवर्मा आदि मारे गए ! तो क्या राक्षस के सारे यत्न मित्रनाश के लिए हैं, न कि शत्रु-विनाश के लिए ? तो मैं अभागा क्या करूं !—

क्या मैं जाऊं तपवन ? तप से शांति मिलेगी कहाँ कहो ?
क्या मैं जाऊं प्रभु के पीछे ? रिपु रहते स्त्री-कार्य अहो !
खड्ग हाथ ले अरि-बल पर क्या टूट पड़ूं ? यह ठीक नहीं
चंदन-मोक्ष-चपल मन रोके, रोके यदि न, कृतघ्न सही ।।२४।।

(सब का प्रस्थान)

———

छठा अंक

स्थान—कुल्या-तट

(सुसज्जित आनंद-मग्न सिद्धार्थक का प्रवेश)

सिद्धार्थक—

जय घन-श्याम ! कृष्ण ! केशी-काल हे !
जय बुध-नयन चंद्र ! चंद्र-नृपाल हे !
जय नीति वह चाणक्य की अरि-नाशिनी,
संग सज चलती न जिसके वाहिनी ॥१॥

तो चलें, आज चिर के प्रिय-मित्र सुसिद्धार्थक से मिलें। (घूमकर और देखकर) यह प्रिय-मित्र सुसिद्धार्थक तो इधर ही को आ रहा है ! अच्छा तो इसके पास चलता हूं।

(सुसिद्धार्थक का प्रवेश)

सुसिद्धार्थक—

पान, महोत्सव आदि में देते क्लेश महान।
बिना सुहृद सब सुख यहाँ करते दुःख प्रदान ॥२॥

मैंने सुना है कि मलयकेतु के शिविर से प्रिय-मित्र सिद्धार्थक आए हैं। तो जरा उन्हें ढूँढूँ। (घूमकर और समीप जाकर) ये रहे सिद्धार्थक।

सिद्धार्थक—(देखकर) क्यों, प्रिय वयस्य सुसिद्धार्थक इधर ही आ रहे हैं ! (पास जाकर) प्रिय मित्र सकुशल तो हैं ?

(दोनों परस्पर गले लगकर मिलते हैं।)

सुसिद्धार्थक—ओह ! मित्र ! मेरी कुशल कैसी ?—जिससे कि तुम, बहुत दिनों बाद परदेश से लौटकर भी बिना बातचीत किए ही दूसरी ओर निकल गए।

सिद्धार्थक—क्षमा करें प्रिय-मित्र। क्योंकि मुझे मिलते ही आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी कि—सिद्धार्थक ! जाओ, यह प्रिय समाचार

प्रियदर्शन महाराज चन्द्रगुप्त से कह दो। उसके बाद वह शुभ समाचार उन्हें देकर और यह राजा का प्रसाद प्राप्त करके मैं प्रिय वयंस्य से मिलने के लिए आपके घर की ओर चला ही था।

सुसिद्धार्थक—मित्र! यदि वह मेरे सुनने योग्य है, तो मुझे भी सुनादो—कौन-सा वह प्रिय समाचार प्रियदर्शन देव चंद्रगुप्त को दिया है?

सिद्धार्थक—प्रिय मित्र! तुम्हारे लिए भी कोई बात न सुनाने योग्य हो सकती है? अच्छा तो सुनिए—बात यह है कि आर्य चाणक्य की नीति के कारण भ्रष्ट बुद्धि नीच मलयकेतु ने राक्षस को पदच्युत कर चित्रवर्मा आदि पांच राजाओं को मरवा डाला। ऐसा होने पर सब राजाओं ने यह जान लिया कि मलयकेतु बड़ा अविचार-शील और दुष्ट पुरुष है; इसलिए अपनी अधिकार-रक्षा में निपुण होने के कारण, जब वे, मलयकेतु की छावनी को छोड़कर, सैनिकों के भयभीत होकर भाग जाने पर, परिमित साथियों के साथ, अपने-अपने देश को चले गए; तब भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुरात, बलगुप्त, राजसेन, भागुरायण, रोहिताक्ष और विजयवर्मा आदि पुरुषों ने मलयकेतु को कैद कर लिया।

सुसिद्धार्थक—मित्र! लोग तो ऐसा कहते हैं कि—भद्रभट आदि पुरुष, महाराज चंद्रगुप्त से उदास होकर, मलयकेतु की शरण में आगए थे। तो किसलिए यह कुकवि-रचित नाटक के समान आरंभ में कुछ और अंत में कुछ और ही हो गया?

सिद्धार्थक—मित्र! सुनिए तो सही—दैव-गति के समान आर्य चाणक्य की नीति को भी कोई नहीं जान सकता। हम उसके आगे शीश झुकाते हैं।

सुसिद्धाथक—मित्र उसके बाद?

सिद्धार्थक—मित्र! उसके पश्चात् इधर से आर्य चाणक्य सर्व-साधन-सम्पन्न महान् सेना के साथ निकल पड़े और राज-विहीन संपूर्ण राज-सेना पर अपना अधिकार कर लिया।

सुसिद्धार्थक—मित्र! कहां?

सिद्धार्थक—मित्र ! जहाँ ये—

मद-सदर्प चीखें करि ऐसे-
सजल-जलद-गर्जन हो जैसे-
कशा-घात-भय-कंपित चंचल-
रण-सज्जित होते हय प्रतिपल ॥३॥

सुसिद्धार्थक—मित्र ! यह सब तो रहने दो। यह बताओ कि सब लोगों के आगे अनादर-पूर्वक पद-त्याग कर देने के बाद भी आर्य चाणक्य ने उसी मंत्री-पद को कैसे अंगीकार कर लिया ?

सिद्धार्थक—मित्र ! तुम तो इस समय बड़े भोले बन रहे हो, जो कि आर्य चाणक्य की बुद्धि की गहराई को जानना चाहते हो, जिसे कि अमात्य राक्षस भी न जान सके।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! अच्छा, अमात्य राक्षस अब कहाँ हैं ?

सिद्धार्थक—मित्र ! आर्य चाणक्य को यह समाचार मिला है कि वे उस प्रयल-कोलाहल के बढ़ने पर मलयकेतु की छावनी से निकल कर उंदुर नामक चर के साथ इसी कुसुमपुर में आए हैं।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! नंद का राज्य लौटाने के लिये भयंकर उद्योग करने वाले अमात्य-राक्षस कुसुमपुर से निकलकर और अब निष्फल-प्रयत्न हो फिर भी कैसे इसी कुसुमपुर में आगए ?

सिद्धार्थक—मित्र ! मेरा तो ऐसा विचार है कि चंदनदास में प्रेम होने के कारण।

सुसिद्धार्थक—मित्र ! यह ठीक है कि चंदनदास में प्रेम होने के कारण; किंतु क्या तुम सोचते हो कि चंदनदास छूट जायगा ?

सिद्धार्थक—मित्र ! उस अभागे का छुटकारा कहाँ होगा ? आर्य चाणक्य की आज्ञा से हमीं दोनों को उसे वध्य-स्थान में ले जाकर मारना है।

सुसिद्धार्थक—(क्रोधपूर्वक) मित्र ! क्या आर्य चाणक्य के पास और कोई घातक नहीं है, जो हम दोनों इस क्रूर कार्य में नियुक्त किए जा रहे हैं ?

सिद्धार्थक— मित्र ! ऐसा कौन है, जो इस जीव-लोक में जीवित रहना चाहता हो और आर्य चाणक्य की आज्ञा को भंग करे ? इसलिए आओ, चांडाल का वेश बनाकर चंदनदास को वध्य-स्थान में ले चलें।

(दोनों का प्रस्थान)

प्रवेशक

स्थान— कुसुमपुर के बाहर पुरानी वन-वीथी

(फांसी हाथ में लिए एक पुरुष का प्रवेश)

पुरुष—

यत्न-रचित-पाशानना, षड्गुण-सहित ललाम।
जय रिपु-बंधन में कुशल विष्णुगुप्त-नय-दाम ॥४॥

(घूमकर और देखकर) यह वही प्रदेश है, जो गुप्तचर उंदुर ने आर्य चाणक्य को बताया है और जहां आर्य चाणक्य की आज्ञा से मुझे अमात्य-राक्षस से मिलना है। क्यों, यह तो सचमुच ही अमात्य-राक्षस सिर पर परदा डाले इधर ही चला आ रहा है ! इसलिए तबतक इन पुराने उद्यान-वृक्षों के पीछे छिपकर देखता हूँ कि यह कहाँ पर बैठता है। (घूमकर छिपकर बैठ जाता है)

(उपरिवर्णित रूप में सशस्त्र राक्षस का प्रवेश)

राक्षस—(आंखों में आँसू भरकर) हाय ! बड़े दुःख की बात है !—

आश्रय-हीन दीन कुलटा-सी लक्ष्मी चन्द्र-समीप गई,
देखा-देखी उसके पीछे जनता नृपति-प्रतीप गई;
श्रम-फल-विरहित मित्रों ने भी कार्य-भार सब छोड़ दिया !
अथवा क्या वे करें ? शीश-बिन नाग-दशा को प्राप्त किया ॥५॥

और—

तज उच्च-कुल उस अवनि-पति पति-देव को वह सर्वथा,
लक्ष्मी गई छल से वृपल के पास में वृपली यथा।

जाकर वहीं फिर स्थिर हुई, इसमें अहो ! हम क्या करें ?
सब यत्न रिपु-सम विफल करता विधि, विपद कैसे तरें ? ॥६॥

मैंने तो—

अनुचित ढंग से स्वर्ग-लोक को देवेश्वर के जाने पर,
किए प्रयत्न अनेक, बनाएं शैलेश्वर को राजेश्वर !
उसके वध में उसके सुत को देना चाहा वह सममान,
हुई विफलता फिर भी, विप्र न नंद-वंश-रिपु, देव महान ॥७॥

अहो ! म्लेच्छ मलयकेतु कितना अविचारशील है ! क्योंकि—
'करता है जो उपरत प्रभु की सेवा पण रख प्राण,
प्रभु-रिपु-संग में क्यों वह राक्षस करे संधि का मान !
नीच म्लेच्छ यह सोच न पाया, कैसा मूर्ख महान !
भाग्य-हीन का अथवा सारा जाता रहता ज्ञान ॥८॥

सो अब भी शत्रु के हाथ में पड़कर राक्षस भले ही मर जाए, किन्तु चंन्द्रगुप्त के संग वह कदापि संधि नहीं करेगा ! अथवा अपयश की अपेक्षा प्रतिज्ञा का झूठा हो जाना मुझे अभीष्ट है; किन्तु शत्रु-द्वारा वंचित होकर तिरस्कार का भाजन बनना मैं अच्छा नहीं समझता। (चारों ओर देखकर आँखों में आंसू भर कर) ये वे ही कुसुमपुर के समीप के स्थान हैं, जिनकी गलियों को महाराज नंद अपने पग संचार से पवित्र किया करते थे। इस प्रवेश में—

धनुष तानते समय जिन्होंने ढीला तजा लगाम,
चपल तुरग चढ़ नृप न चंचल बींधे लक्ष्य ललाम।
इस उपवन में नृप-संग बातें की बिन उनके आज,
देख कुसुमपुर-भूमि हृदय में उमड़ा दुःख समाज ॥९॥

इसलिए मैं मंदभागी अब कहाँ जाऊं ? (देखकर) अच्छा, यह पुराना उद्यान सामने ही दीख रहा है। इसमें जाकर कहीं न कहीं से चंदनदास का पता लगाऊंगा। (घूमकर स्वगत) अहा ! कोई नहीं

जानता कि मनुष्य को भले-बुरे भाग्य का फल कब भुगतना पड़े! क्योंकि—

शशि-सम जिसको पुर-जन लखते कर अंगुलि-निर्देश,
नृप-गण-परिवृत निकला करता पुर से तुल्य-नरेश;
उसी नगर में, वही अहो! मैं, हो अब श्रम-फल-हीन,
भय से तस्कर-सदृश पुरातन-वन-प्रवेश में लीन ॥१०॥

अथवा जिनकी दया से यह सब कुछ था, वे ही अब नहीं रहे। (अभिनयपूर्वक भीतर जाकर और देखकर) अहो! इस प्राचीन उद्यान की सारी शोभा जाती रही। क्योंकि यहां—

यत्न-विनिर्मित राजभवन का कुल-सम हुआ प्रणाश,
सुजन-हृदय-सम, सर है सूखा पाकर मित्र-विनाश;
भाग्य-रहित की नीति-सदृश तरु लख पड़ते फल-हीन,
मूढ़ मनुज-मति दुर्नय से ज्यों, अवनी तृण-गण-लीन ॥११॥

और यहाँ—

कटी हुई है तरुवर-शाखा, पाकर भीषण परशु-प्रहार,
पारावत-रव-मिस हैं झरती पीडा-सहित करुण-रस-धार;
परिचित का दुःख देख कृपायुत ले-लेकर श्वासावलियां,
इनके व्रण पर बांध रहे अहि, वसन-रूप निज कांचलियाँ ॥१२॥

और ये बेचारे—

शुक-हृदय तरु कीट-व्रणों से
मानो अश्रु बहाते हैं;
पत्र-छाया-हीन दुखित अति
सब श्मशान को जाते हैं ॥१३॥

तो तबत क भाग्य-हीन के लिए सुलभ इस टूटी-फूटी शिला पर कुछ देर बैठता हूँ। (बैठकर और सुनकर) ऐं! यह अचानक शंख और ढोल के शब्द से मिला हुआ कैसा मंगल-गान सुन पड़ता है? जो यह

फोड़ रहा है अति भीषण अब, श्रोताओं के कान,
प्रासदों से निकल रहा जब, कर न सके वे पान।

ढोल-शंख-रव से मिलकर यह, मंगल-स्वर-संचार,
कौतूहल-वश बढ़ता मानो, लखने दिग् विस्तार ॥१४॥

(सोचकर) अच्छा, समझ गया। यह मंगल-गान निश्चय ही मलय-केतु के पकड़े जाने के कारण हो रहा है, जो कि राज-कुल की··· (आधा कह चुकने पर डाह से)···मौर्य-कुल की अधिक प्रसन्नता को सूचित कर रहा है। (आँखों में आँसू भर कर) ओह! कितने दुःख की बात है!—

अरि-लक्ष्मी परिचय मुझे दिया अहो! निःशेष।
मुझे जताने के लिए विधि का यत्न विशेष ॥१५॥

पुरुष—ये बैठे हुए हैं; तो अब आर्य चाणक्य की आज्ञा पूर्ण करूं। (राक्षस की ओर न देखता हुआ-सा उसके आगे अपने गले में फांसी बांधता है)

राक्षस—(देखकर स्वगत) एं! यह क्यों अपने को फांसी दे रहा है? निश्चय ही यह मुझ-जैसा ही दुखिया है। अच्छा, इससे पूछता हूं। (समीप जाकर प्रकट) भले आदमी! यह क्या कर रहे हो?

पुरुष—(आँखों में आंसू भर कर) आर्य! प्रियमित्र के विनाश से दुखी होकर जो कुछ मुझ-सरीखा अभागा मनुष्य किया करता है।

राक्षस—(स्वगत) मैंने पहले ही जान लिया था कि—यह बेचारा मेरे समान ही कोई दुखिया है। (प्रकट) भद्र! तुम भी मेरे समान दुखी हो। यदि यह कोई रहस्य या बड़ी भारी बात न हो, तो मैं सुनना चाहता हूँ कि आपके प्राण-त्याग का क्या कारण है?

पुरुष—(भलीभाँति सोचकर) आर्य! न रहस्य है और न कोई बड़ी भारी बात है, तो भी प्रिय मित्र के विनाश से दुखी-हृदय में, क्षणभर के लिए भी, मृत्यु-काल को नहीं टाल सकता।

राक्षस—(गहरी साँस लेकर स्वगत) दुःख है, मित्र की ऐसी घोर विपत्ति में भी पराए की तरह उदास हमें यह नीचा दिखा रहा है। (प्रकट) भद्र! यदि छिपाने योग्य नहीं अथवा न कोई बड़ी भारी

बात है, तो मैं फिर सुनना चाहता हूँ, बताओ, तुम्हारे दुःख का क्या कारण है ?

पुरुष—ओह ! आर्य का इतना हठ ! विवश हूं; अभी बताता हूँ। इस नगर में सेठ जिष्णुदास नाम का जौहरी है।

राक्षस—(स्वगत) है जिष्णुदास—चंदनदास का प्रगाढ़ मित्र। (प्रकट) उसके विषय में क्या बात है ?

पुरुष—वह मेरा प्रिय मित्र है।

राक्षस—(हर्षपूर्वक स्वगत) ऐं ? प्रिय-मित्र बताता है। बड़ा निकट संबंध है ! अहा ! अब चंदनदास का समाचार मिल जायगा। (प्रकट) भद्र ! उसके विषय में क्या बात है ?

पुरुष—(आँखों में आँसू भरकर) वह अब गरीबों को अपना सारा धन लुटाकर अग्नि-प्रवेश की इच्छा से नगर छोड़कर चला गया। इसलिए मैं भी जबतक प्रिय मित्र के विषय में कोई न सुनने योग्य बात नहीं सुनता, तबतक स्वयं फांसी खाकर मर जाऊं; इसीलिए इस पुरानी वाटिका में आया हूँ।

राक्षस—भद्र ! तुम्हारे मित्र के अग्नि-प्रवेश का क्या कारण है ?

क्या वही पीड़ित महारोग से,
जिसका कुछ उपचार नहीं ?

पुरुष—आर्य ? नहीं, नहीं ?

राक्षस—

क्या वह पीड़ित नृपति-क्रोध से,
अनल, गरल से उग्र कहीं ?

पुरुष—आर्य ! ऐसा मत कहिए। चंद्रगुप्त के राज्य में ऐसा कठोर काम नहीं हो सकता।

राक्षस—

मोहित हो क्या दुर्लभ इसने,
चाही जग में पर-नारी ?

पुरुष —(दोनों कान ढककर) आर्य ! ऐसा भी न कहिए। अत्यन्त विनम्र वैश्य लोग ऐसा नहीं किया करते, और विशेषकर जिष्णुदास— जैसे।

राक्षस—

मित्र-नाश क्या सदृश आपके
बना अहो ! विनाशकारी ? ॥१६॥

पुरुष—आर्य ! यही बात है।

राक्षस—(चिन्तापूर्वक स्वगत) चंदनदास इसके मित्र का प्रय-मित्र है और प्रिय मित्र का विनाश ही उसके अग्नि-प्रवेश का कारण है, इसलिए सचमुच मेरा मित्र-प्रेम का पक्षपाती मन बहुत ही घबरा रहा है। (प्रकट) भद्र ! तुम्हारे मित्र का सुन्दर चरित्र मैं विस्तारपूर्वक सुना चाहता हूं।

पुरुष—आर्य ! मैं अभागा इससे अधिक अपनी मृत्यु में कोई विघ्न उत्पन्न करना नहीं चाहता।

राक्षस—भद्रमुख ! आप उस सुनने योग्य कथा को आरंभ करें।

पुरुष—विवश हूँ। अच्छा अभी कहता हूँ; सुनें आर्य।

राक्षस—भद्र ! मैं सावधान हूँ।

पुरुष—क्या आर्य जानते हैं कि इस नगर में सेठ चंदनदास नाम के एक जौहरी हैं ?

राक्षस—(दुःखपूर्वक स्वगत) यह आज भाग्य ने हमें मृत्यु की ओर ले जानेवाला भीषण मार्ग खोल दिया है हृदय ! धीरज धरो। तुम्हें अभी बहुत बुरा समाचार सुनना है (प्रकट) भद्र ! सुना है कि वह सज्जन बड़ा मित्र-प्रेमी है। उसके विषय में क्या बात है ?

पुरुष—वह इस जिष्णुदास का प्रिय मित्र है।

राक्षस—(स्वगत) दुःख का वज्र अभी हृदय पर गिरने वाला है। (प्रकट) उसके बाद ?

पुरुष—इसलिए जिष्णुदास ने प्रिय मित्र के स्नेह के अनुरूप आज चंद्रगुप्त से विनय की।

राक्षस—क्यों, कैसी ?

पुरुष—देव ! मैंने अपने घर में कुटुम्ब के पालन-पोषण के लिए बहुत-सा धन रख छोड़ा है। वह आप ले लीजिए और मेरे प्रिय मित्र चंदनदास को छोड़ दीजिए।

राक्षस—(स्वगत) वाह ! जिष्णुदास ! वाह ! अहो ! तुमने मित्र-प्रेम दिखा दिया। क्योंकि-

पिता पुत्रों के हा ! सुत जनक के प्राण हरते,
तथा मित्रों को भी सुहृद जिसके हेतु तजते;
उसी प्यारे को जो दुःख-सदृश्य तैयार तजने,
तुम्हें पाके सो ही धन सफल निर्लोभ बनिये ! ॥१७॥

(प्रकट) भद्र ! तब उस प्रकार विनती करने पर मौर्य ने क्या कहा ?

पुरुष—आर्य ! तब सेठ जिष्णुदास के ऐसा कहने पर चंद्रगुप्त ने उत्तर दिया कि, 'जिष्णुदास ! मैंने धन के कारण सेठ चंदनदास को कैद नहीं किया है, किन्तु इसने अमात्य राक्षस के परिवार को छिपाया और बहुत बार प्रार्थना करने पर भी उसे नहीं सौंपा। तो यदि वह अमात्य राक्षस के कुटुम्ब को सौंप देता है, तब तो वह छूट सकता है; अन्यथा उसे प्राण-दंड मिलेगा ही' यह कहकर चंदनदास को वध्यशाला में पहुँचा दिया। इसलिए 'जब तक कि मैं चंदनदास के विषय में कोई बुरी बात नहीं सुनता, तब तक अपने को समाप्त किए देता हूँ, इस कारण अग्नि-प्रवेश की इच्छा से सेठ जिष्णुदास नगर छोड़कर चला गया है। मैं भी जब तक प्रिय मित्र जिष्णुदास के विषय में कोई बुरी बात नहीं सुनता, तब तक गले में फाँसी-बाँध कर प्राण-विसर्जन करदूं, इसीलिए इस पुराने-उद्यान में चला आया हूँ।

राक्षस—(घबराकर) चंदनदास मार डाला तो नहीं गया ?

पुरुष—आर्य ! मारा तो नहीं गया। उससे बार-बार अमात्य राक्षस के कुटुम्ब को अवश्य मांग रहे हैं। किंतु वह इतना मित्र-वत्सल है कि मांगने पर भी नहीं दे रहा; इसीलिए उसकी मृत्यु में विलंब हो रहा है।

राक्षस—(प्रसन्न होकर स्वगत) वाह ! मित्र ! चंदनदास ! वाह ! तुम धन्य हो—

मिला सुयश शिव को यथा रख शरणागत-प्राण।
पाया मित्र-परोक्ष में तुमने सुयश महान॥ १८॥

(प्रकट) भद्र ! भद्र ! अब तुम शीघ्र जाओ; जिष्णुदास को चिता में कूदने से रोको। मैं भी चंदनदास को मरने से बचाता हूँ।

पुरुष—अच्छा तो किस उपाय से आर्य चंदनदास को मृत्यु से बचाएंगे ?

राक्षस—(तलवार खींचकर) पुरुषार्थ के परम मित्र इस कृपाण से। देखो जरा—

जलधर-रहित नभ-तुल्य जिसकी मूर्ति शोभित हो रही,
यह समर-पुलकित हाथ में मम खड्ग लख पड़ता वही,
जिसके अधिक बल की परीक्षा युद्ध-मध्य हुई अहा !
अब सुहृद-प्रेम-अधीन मुझको रण-समुद्यत कर रहा॥१९॥

पुरुष—आर्य ! इस प्रकार सेठ चंदनदास के प्राण बच सकते हैं, यह तो मैंने सुन लिया। किन्तु मैं ऐसी विषम परिस्थिति में पड़ा हूँ कि आपके निर्णय को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। (देखकर चरणों में गिरकर) तो क्या आप ही प्रातः स्मरणीय अमात्य-राक्षस हैं ?—मेरे इस संदेह को दूर करने की आप कृपा करें।

राक्षस—भद्र ! स्वामि-कुल के विनाश से दुखी, मित्र-नाश का कारण तथा अपवित्र नाम वाला मैं वही यथार्थ नाम वाला पापी राक्षस हूं।

पुरुष—(प्रसन्नता पूर्वक फिर चरणों में गिरकर) कृपा कीजिए कृपा कीजिए। बड़ा आश्चर्य है। सौभाग्य से मैं कृतार्थ हुआ।

राक्षस—भद्र ! उठो, उठो; अब विलम्ब मत करो; जिष्णुदास से कहदो कि राक्षस चंदनदास को अभी फाँसी से छुड़ाता है।

('जलधर-रहित-नभ-तुल्य'...' इत्यादि पढ़ता हुआ खड्ग हाथ में लेकर इधर-उधर घूमता है)

पुरुष—(पैरों में गिरकर) क्षमा करें; क्षमा करें; अमात्य; राक्षस। पहले दुष्ट चंद्रगुप्त ने यहां आर्य शकटदास के वध की आज्ञा दी थी। उसे कोई वध्य-शाला से हटाकर परदेश भगा ले गया। इसलिए नीच चंद्रगुप्त ने 'क्यों ऐसी असावधानी की' यह कह कर आर्य शकट-दास के बचकर निकल जाने के कारण भड़की हुई क्रोधाग्नि को वधिकों के वधरूपी जल से शांत किया। तब से लेकर वधिक लोग जिस किसी नए पुरुष को हथियार हाथ में लेकर आगे-पीछे घूमता-फिरता देखते हैं, तो अपना जीवन बचाने के लिए बिना वध्य-शाला में प्रवेश किए बीच में ही वध्य-पुरुष को मार डालते हैं। इसलिए यदि अमात्य-चरण इस प्रकार शस्त्र हाथ में लेकर वहाँ जायंगे, तो सेठ चंदनदास की मृत्यु और जल्दी होगी। (प्रस्थान)

राक्षस—(स्वगत) अहो ! चाणक्य-वटु का नीति-मार्ग नहीं जाना जा सकता। क्योंकि—

यदि शत्रु-आज्ञा से शकट आया निकट मेरे अहो !
फिर क्रोध से रिपु ने वधिक-वध क्यों किया मानस ! कहो;
यदि छल नहीं, तो बात वैसी वह बुरी क्यों सोचता !
यों बुद्धि मेरा हो रही अब भी अहो ! संशय-रता ॥ २० ॥

(सोचकर) इसलिए—

यदि मार दें घातक प्रथम ही, समय असि का है कहां ?
नय-काल भी न, विलम्ब से फल प्राप्त होता है यहां;
है शांत रहना भी न समुचित, मित्र मम हित मर रहा,
निज देह अर्पण कर छुड़ाऊंगा उसे, जाना अहा ! ॥ २१ ॥

(प्रस्थान)

—(*)—

सातवा अङ्क

स्थान—वध्य-शाला

(चांडाल का प्रवेश)

चांडाल—हटो सज्जनो ! हटो ! दूर हो जाओ श्रीमान्‌जी ! दूर हो जाओ।

कुल, धन, दयिता, प्राण निज चाहें रखना आय।
तज दें विष-सम यत्न से नृप-विरोध का कार्य ॥१॥
क्योंकि—
अपथ्य-सेवन में रुजा होती अथवा काल।
नृप-विरोध में सकल कुल पाता काल कराल ॥२॥

इसलिए यदि आप लोगों को भरोसा नहीं होता, तो वध्य-भूमि की ओर पुत्र-स्त्री-सहित जाते हुए राजद्रोही इस सेठ चंदनदास को देखो। सज्जनो ! क्या यह कहते हो—'क्या चंदनदास की मुक्ति का कोई उपाय है ?' इस अभागे के छुटकारे का क्या उपाय हो सकता है ? हो भी सकता है, यदि यह अमात्य राक्षस के परिवार को सौंप दे। क्या यह कहते हो—'यह शरणागत-वत्सल अपने प्राणों के लिए ऐसा दुष्कर्म नहीं करेगा ?' सज्जनो ! यदि ऐसी बात है, तो उसकी शुभ गति का ध्यान करो; क्यों अब व्यर्थ आप लोग उपाय की बात सोच रहे हैं ?

(द्वितीय चांडाल के साथ, वध्यवेश को धारण किए, कंधे पर
(शूली लादे स्त्री-पुत्र-सहित चंदनदास का प्रवेश)

चंदनदास—हाय ! हाय ! कितनी बुरी बात है—जो हम लोग कहीं कोई अपराध न हो जाय, सदा इस बात से डरा करते थे, वे ही हम चोरों की तरह मृत्यु को प्राप्त हो रहे हैं। नमस्कार है यमराज को।

अथवा कठोर व्यक्तियों के लिए दोषी या निर्दोषी में कोई अन्तर नहीं होता। देखिए—

मरण-भीति से मांस तज तृण खा रखते प्राण।
सरल-हरिण-वध में वधिक-आग्रह कौन महान ? ॥३॥

(चारों ओर देखकर) ओ! प्यारे मित्र जिष्णुदास! क्यों मेरी बात का उत्तर भी नहीं देते! अथवा ऐसे पुरुष विरले ही होते हैं, जो ऐसे समय में दीख पड़ते हैं। (आँखों में आँसू भरकर) ये मेरे प्रिय-मित्र, जिनके पास रोने के सिवाय कोई उपाय नहीं है और अत्यंत दुखी होने के कारण जिनके मुंह का रंग ही उड़ा हुआ है, लौटते हुए, आँसू भरी दृष्टि मेरी ओर डाल रहे हैं। (यह कहकर घूमता है)

दोनों चांडाल—(घूमकर और देखकर) आर्य चंदनदास अब तुम वध्य-शाला में आगए हो, इसलिए कुटुम्ब को विदा करो।

चंदनदास—आर्ये! तुम कुटुम्ब वाली हो। अपने पुत्र के साथ लौट जाओ। वह वध्य-शाला है। इससे आगे चलना मेरे साथ अनुचित है।

स्त्री—(आँखों में आंसू भरकर) आप परलोक जा रहे हैं, परदेश नहीं। इसलिए अब कुल-जन का लौटना ठीक नहीं। (रोती है)

चंदनदास—आर्ये! सचमुच मित्र के कारण मेरे प्राण जा रहे हैं, न कि मेरे अपने अपराध के कारण। तो क्यों हर्ष के स्थान में भी रो रही हो ?

स्त्री—आर्य! यदि ऐसी बात है, तो अब कुटुम्ब का लौटना अनुचित है।

चंदनदास—तो अब आपने क्या निश्चय किया है ?

स्त्री—(आँखों में आँसू भरकर) स्वामी के चरणों का अनुगमन करने वाली नारी को स्वर्ग मिलता है।

चंदनदास—आर्ये! तुम्हारा यह निश्चय ठीक नहीं। इसलिए अब तुम लोक-व्यवहार से सर्वथा अनभिज्ञ इस भोले बालक का पालन करो।

स्त्री—प्रसन्न कुल-देवता इसकी रक्षा करें। बेटा! अब फिर पिताजी के दर्शन नहीं होंगे; प्रणाम कर लो।

पुत्र—(चरणों में गिरकर) पिता जी! मैं आपके बिना क्या करूंगा?

चंदनदास—बेटा जहां चाणक्य न हो, वहाँ रहना।

दोनों चांडाल—आर्य चंदनदास! शूली गाड़ दी है, इसलिए अब तैयार हो जाओ!

स्त्री—(रोती हुई) सज्जनो! रक्षा करो, रक्षा करो।

चंदनदास—भद्रमुख! कुछ देर ठहरो। प्राणप्रिये! क्यों चीख रही हो? वे राजा नंद तो स्वर्ग सिधार गए, जो प्रतिदिन दुखी स्त्रियों पर दया किया करते थे।

पहला—अरे वेणुवेत्रक! पकड़ ले इस चंदनदास को। कुटुम्ब के लोग अपने आप चले जायेंगे।

दूसरा—अरे वज्रलोमक! अभी पकड़ता हूँ।

चंदनदास—भद्रमुख! कुछ देर ठहरो, जब तक पुत्र से मिल लूं। बेटा मरना तो अवश्य था! किंतु मित्र के काम से मर रहा हूँ; इसलिए सोच मत कर।

पुत्र—पिता जी! यह तो बताइये—क्या यह बात हमारे कुल में पहले से चली आ रही है?

दूसरा—अरे वज्रलोमक! पकड़ ले इसे।

(दोनों चंदनदास को शूली पर चढ़ाने के लिए पकड़ लेते हैं)

स्त्री—(छाती पीटती हुई) सज्जनो! बचाओ, बचाओ।

(परदे को हटाकर राक्षस का प्रवेश)

राक्षस—आर्य! मत घबराओ, मत घबराओ। अरे रे! फांसी देने वाले जल्लादो! चंदनदास को मत मारो। क्योंकि—

देखा जिसने निज प्रभु-कुल का रिपु-कुल-तुल्य विनाश,
बैठा सुख से मान महोत्सव मित्र जनों का त्रास;

अपमानित होकर भी तुमसे है जीवन प्रिय जिसको,
मृत्यु-लोक-पथ वध्य-माल यह अब पहनाओ मुझको ॥४॥

चंदनदास—(देखकर आँखों में आँसू भर) अमात्य ! यह क्या करने पर तुले हो ?

राक्षस—तुम्हारे सुन्दर चरित्र का थोड़ा-सा अनुकरण ।

चंदनदास—अमात्य ! मेरे संपूर्ण प्रयत्न को निष्फल करके आपने यह अच्छा नहीं किया ।

राक्षस—मित्र ! चंदनदास ! उलाहने की कोई बात नहीं । क्योंकि संसार स्वार्थी है । भद्रमुख ! दुष्ट चाणक्य को यह समाचार दे दो ।

दोनों चांडाल—कौन-सा ?

राक्षस—

दुर्जन-प्रिय हत कलियुग में भी रक्खे मित्र-प्राण,
कलुषित की यश-शाली जिसने शिवि की कीर्ति महान;
आत्मचरित से मलिन किए हैं बौद्धों के सब कार्य,
जिसके हेतु, मारते उसको, मैं हूँ वही अनार्य ॥५॥

पहला—अरे वेणुवेत्रक ! तुम जरा सेठ चंदनदास को लेकर थोड़ी देर इस श्मशान-वृक्ष की छाया में ठहरो, जब तक मैं आर्य चाणक्य को यह समाचार दे दूं कि अमात्य राक्षस पकड़ा गया ।

दूसरा—अरे वज्रलोमक ! ऐसा ही सही ।

(स्त्री-पुत्र-सहित चंदनदास के साथ प्रस्थान)

पहला—(राक्षस के साथ घूमकर) यहां पर कौन-कौन द्वारपाल है ? जाओ; नंद-कुल की संपूर्ण सेनाओं को चूर-चूर करने में वज्र के समान और मौर्य-कुल में पूर्ण धर्म की स्थापना करने वाले उन आर्य चाणक्य को यह सूचित कर दो कि—

राक्षस—(स्वगत) यह सुनना भी राक्षस के भाग्य में लिखा था ।

पहला—आर्य की नीति ने जिसकी बुद्धि को जकड़ दिया है, वह अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

(परदे के पीछे सारा शरीर छिपाए केवल मुंह बाहर निकाले हुए प्रसन्न चाणक्य का प्रवेश)

चाणक्य—भद्र ! कहो, कहो—

किसने भभकी आग वसन में अपने बांधी ?
किसने बंधन डाल पवन की गति है साधी ?
किसने करि-मद-गंध-सहित हरि पंजर डाला ?
किसने तैरा जलधि करों से मकरों वाला ? ॥६॥

पहला—राजनीति के महान् पंडित आप ही ने तो !

चाणक्य—भद्र ! नहीं ऐसा न कहो। यह कहो कि—नंद-कुल के विरोधी दैव ने।

राक्षस—(देखकर स्वगत) एँ ! यह वह दुरात्मा अथवा महात्मा कौटिल्य है ? क्योंकि—

जलनिधि रत्नों की तथा सब शास्त्रों की खान
तृप्त न रिपु भी हम हुए कर जिसका गुण ध्यान ॥७॥

चाणक्य—(देखकर हर्ष पूर्वक) एँ ! यह वह राक्षस है, जिस महात्मा ने—

अति विमर्श के क्लेश से कर चिर-निद्रा भंग,
वृषल-सैन्य मम बुद्धि को किया अहो ! अति तंग ॥८॥

(परदे को हटा कर समीप जाकर) अजी ! अमात्य राक्षस ! मैं विष्णुगुप्त आपको अभिवादन करता हूँ।

राक्षस—(स्वगत) 'अमात्य' यह पदवी अब लज्जा उत्पन्न करती है (प्रकट) अजी ! विष्णुगुप्त ! मैंने चांडाल को छुआ है, मुझे मत छुओ।

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! यह चांडाल नहीं है; यह तो आपका पहले देखा-भाला सिद्धार्थक नाम का राज-पुरुष है। और जो

अविरल लगाम-कसे महाकृश अश्वगण आसन-सजे,
गज स्थान-भोजन- जल-शयन-वंचित समर साधन-सजे;
ये शत्रु के अभिमान-भंजन एक बार निहारिए,
इनकी दशा को देखकर फिर आत्म-बल अवधारिए ॥१५॥

अथवा अधिक कहना व्यर्थ है। बिना आपके शस्त्र ग्रहण किए चंदनदास नहीं बच सकता।

राक्षस—(स्वगत)

नंद-स्नेह बसा हुआ हृदय में, मैं भृत्य हूँ शत्रु का,
जो सींचे पहले स्व-हस्त जल से, वह वृक्ष ही काटता;
धारूंगा निज मित्र-देह रखने में स्वयं ही शस्त्र को,
आती कार्य परंपरा न विधि की मेरे अहो ध्यान में ॥१६॥

(प्रकट) अजी! विष्णुगुप्त! लाओ खड्ग। जिसके लिए सारे काम करने पड़ते हैं, उस मित्र-प्रेम को मैं नमस्कार करता हूँ। क्या करूं? मैं तैयार हूँ।

चाणक्य—(प्रसन्नता पूर्वक खड्ग देकर) वृषल! वृषल! अमात्य राक्षस ने अब शस्त्र ग्रहण करके तुम पर कृपा की है। सौभाग्य से आपकी वृद्धि हो रही है।

राजा—यह चंद्रगुप्त आपका अत्यन्त अनुगृहीत है।

(पुरुष का प्रवेश)

जय हो, जय हो आर्य की। आर्य! भद्रभट, भागुरायण आदि मलयकेतु को हथकड़ी-बेड़ी डालकर द्वार पर लाए हैं, यह सुनकर जो आर्य आज्ञा करें।

चाणक्य—हाँ सुन लिया। भद्र! अमात्य राक्षस को कहो; ये ही अब राज कार्य करेंगे।

राक्षस—(स्वगत) क्यों, अब मुझे अपने वश में करके चाणक्य मुझे ही कहने के लिए प्रेरित करता है! क्या करूं? (प्रकट)

महाराज चंद्रगुप्त ! यह तो आप जानते ही हैं कि हम मलयकेतु के पास कुछ दिन रहे हैं, इसलिए इसे प्राण-दान दे दो।

राजा—(चाणक्य के मुंह की ओर देखता है।)

चाणक्य—राजन् ! अमात्य राक्षस की इस पहली प्रार्थना को मान लीजिए ! (पुरुष की ओर देखकर) भद्र ! हमारी ओर से भद्रभट आदि से कह दो कि—अमात्य राक्षस की प्रार्थना से महाराज चंद्रगुप्त मलयकेतु को उसके पिता का राज्य सौंपते हैं; इसलिए आप लोग उसके साथ चले जाएं और उसे सिंहासन पर बैठाकर लौट आएं।

पुरुष—जो आर्य की आज्ञा।

चाणक्य—जरा ठहरो; भद्र ! भद्र ! इसी प्रकार विजयपाल और दुर्गपाल से यह एक बात और कह देना कि—अमात्य राक्षस के शस्त्र-ग्रहण से प्रसन्न होकर महाराज चंद्रगुप्त आज्ञा देते हैं कि सेठ चंदनदास को पृथ्वी भर का नगर-सेठ घोषित कर दिया जाय।

पुरुष—जो आर्य की आज्ञा। (प्रस्थान)

चाणक्य—महाराज चंद्रगुप्त ! मैं अब और क्या तुम्हारा प्रिय करूं ?

राजा—इससे अधिक और क्या प्रिय हो सकता है ?—

मैत्री राक्षस संग में, बना नृपति मैं आर्य !
नंद सभी मारे गए, अधिक और क्या कार्य ? ॥१७॥

चाणक्य—विजया ! दुर्गपाल और विजयपाल से कह दो कि अमात्य राक्षस के शस्त्र-ग्रहण से प्रसन्न होकर महाराज चंद्रगुप्त आज्ञा देते हैं कि हाथी, घोड़ों के सिवाय सब कैदियों को छोड़ दें। अथवा अमात्य राक्षस के नेतृत्व में हाथी, घोड़ों की क्या चिंता है ? इसलिए अब

हय, गज-युत सब लोक को कर दो बंधन-मुक्त।
पूर्ण-शपथ मैं निज शिखा करता बंधन-युक्त ॥१८॥

(शिखा बांधता है)

प्रतिहारी—जो आर्य की आज्ञा।

(प्रस्थान)

चाणक्य—अमात्य राक्षस! अच्छा तो कहो, आपका और क्या प्रिय करूं?

राक्षस—क्या इससे भी अधिक कुछ प्रिय हो सकता है? यदि आपको संतोष नहीं है तो यह सही—

प्रलय-लीन पृथ्वी ने पहले अतिबल सूकर-तनु-धारी
जिस ईश्वर की दंत-कोटि का लिया अहो! आश्रय भारी,
जिस नृप-प्रभु की पोन बाहु का यवन-दुखित अब अवलंबन
लिया, वही नृप-चंद्र बंधु-युत करे अवनि का दुःख भंजन॥१६॥

(सब का प्रस्थान)

———